मयूर
पेपरबैक्स

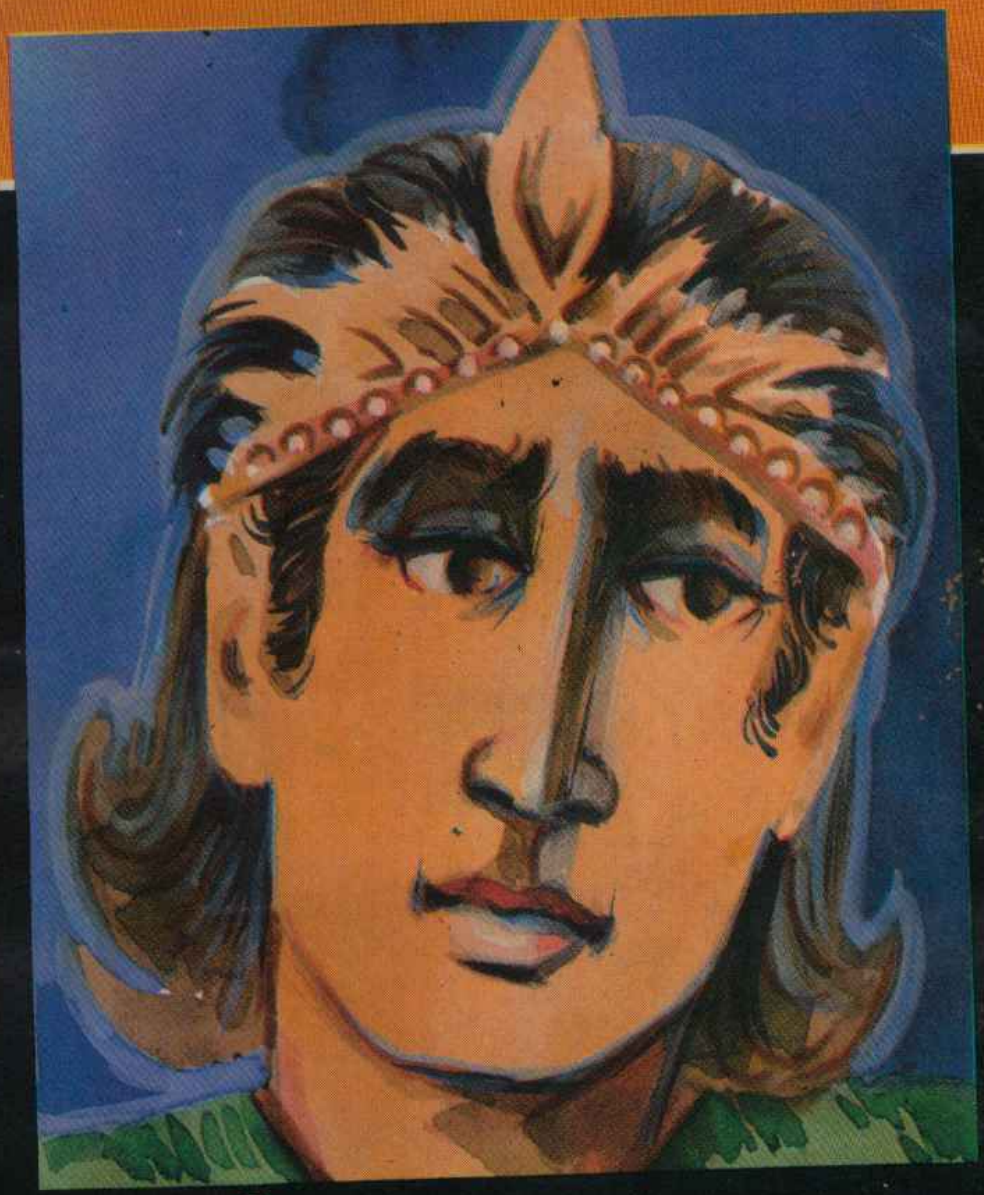

स्कंदगुप्त

जयशंकर प्रसाद

इतिहास-प्रसिद्ध स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के जीवन-प्रसंगों पर आधारित ऐतिहासिक नाट्य-कृति !

मयूर पेपर बैक्स
ए-95, सेक्टर-5, नोएडा-201301

●

प्रथम मयूर पेपरबैक संस्करण : अगस्त, 1988

मूल्य : 11.00

शान प्रिंटर्स, रोहतास नगर, शाहदरा,
दिल्ली-110032 में मुद्रित

●

SKANDAGUPTA (Historical Drama)
by Jayshankar Prasad
Price : Rs. 11.00
[135-127.22PB-788/N]

स्कंदगुप्त

जयशंकर प्रसाद

मयूर पेपरबैक्स

स्कंदगुप्त विक्रमादित्य

इस नाट्य-रचना का आधार दो मंतव्यों पर स्थिर किया गया है; जिनके संबंध में हमें कुछ कहना है—पहला यह कि उज्जयिनी का पर-दु:खभंजक विक्रमादित्य, गुप्त-वंशीय स्कंदगुप्त था और दूसरा यह कि मातृगुप्त ही दूसरा कालिदास था, जिसने 'रघुवंश' आदि काव्य बनाये।

स्कंदगुप्त का विक्रमादित्य होना तो प्रत्यक्ष प्रमाणों से सिद्ध होता है। शिप्रा से तुंबी में जल भरकर ले आने वाले और चटाई पर सोने वाले उज्जयिनी के विक्रमादित्य स्कंदगुप्त के ही साम्राज्य के खंडहर पर भोज के परमार पुरखों ने मालव का नवीन साम्राज्य बनाया था। परंतु मातृगुप्त के कालिदास होने में अनुमान का विशेष संबंध है। हो सकता है कि आगे चलकर कोई प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिल जाये, परंतु हमें उसके लिए कोई आग्रह नहीं। इसलिए हमने नाटक में मातृगुप्त का ही प्रयोग किया है। मातृगुप्त का काश्मीर का शासन और तोरमाण का समय तो निश्चित-सा है। विक्रमादित्य के मरने पर उसका दिया काश्मीर राज्य वह छोड़ देता है, और वही समय सिंहल के कुमार धातुसेन का निर्धारित होता है। इसलिए इस नाटक में धातुसेन भी एक पात्र है। बंधुवर्म्मा, चक्रपालित पर्णदत्त, शर्वनाग, पृथ्वीनाग, पृथ्वीसेन, खिंगिल, प्रख्यातकीर्ति, भीमवर्म्मा (इसका शिलालेख कौशांबी में मिला है), गोविंदगुप्त आदि सभी ऐतिहासिक व्यक्ति हैं।

इसमें प्रपंचबुद्धि और मुद्गल कल्पित पात्र हैं। स्त्रीपात्रों में स्कंद की जननी का नाम मैंने देवकी रखा है। स्कंदगुप्त के एक शिलालेख में—'हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेत' मिलता है। संभव है कि स्कंद की

माता के नाम—देवकी से ही—कवि को यह उपमा सूझी हो। अनंतदेवी का तो स्पष्ट उल्लेख पुरगुप्त की माता के रूप में मिलता है। यही पुरगुप्त स्कंदगुप्त के बाद शासक हुआ है। देवसेना और जयमाला वास्तविक और काल्पनिक पात्र, दोनों हो सकते हैं। विजया, कमला, रामा और मालिनी जैसी किसी दूसरी नामधारिणी स्त्री की भी उस काल में संभावना है; तब भी ये कल्पित हैं। पात्रों की ऐतिहासिकता के विरुद्ध चरित्र की सृष्टि—जहां तक संभव हो सका, नहीं होने दी गयी है, फिर भी कल्पना का अवलंब लेना ही पड़ा—केवल घटना की परंपरा ठीक करने के लिए।

विक्रमादित्य

जिनके नाम से विक्रमीय संवत् का प्रचार है, भारत के उस आबाल वृद्ध-परिचित, प्रसिद्ध विक्रमादित्य का ऐतिहासिक अस्तित्व कुछ विद्वान लोग स्वीकार नहीं करते। इसके कई कारण हैं। इसका कोई शिलालेख नहीं मिलता। विक्रमीय संवत् का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में नहीं है। स्वयं मालव में अति प्राचीन काल से एक मालव संवत् का प्रचार था, जैसे 'मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये'—इत्यादि। इसलिए कुछ विद्वानों का मत है कि गुप्तवंशीय प्रतापी द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ही असली विक्रमादित्य था, उसी ने सौराष्ट्र के शकों को पराजित किया और प्रचलित मालव संवत् के साथ अपनी 'विक्रम' उपाधि जोड़कर विक्रमीय संवत् का प्रचार किया।

परंतु यह मत निस्सार है, क्योंकि चंद्रगुप्त द्वितीय का नाम तो चंद्रगुप्त था, पर उपाधि विक्रमादित्य थी। उसने सौराष्ट्र के शकों को पराजित किया। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि शकारि होना विक्रमादित्य होने के लिए आवश्यक था। चंद्रगुप्त द्वितीय के शकारि होने का हम आगे चलकर विवेचन करेंगे। पर चंद्रगुप्त उज्जयिनी-नाथ न होकर पाटलिपुत्र के थे। उनके शिलालेखों में गुप्त संवत् व्यवहृत हैं, तब वह दो संवतों के अकेले प्रचारक नहीं हो सकते। विक्रमादित्य उनकी उपाधि थी—नाम नहीं था। इन्हीं के लिए 'कथासरित्सागर' में लिखा है—'विक्रमादित्यइत्यासीद्राजा

पाटलिपुत्रके'। सिकंदरसानी और आलमगीरसानी के उदाहरण पर मानना होगा कि जिसकी ऐसी उपाधि होती है, उसके पहले उस नाम का कोई व्यक्ति भी हो चुकता है। चंद्रगुप्त का राज्यकाल 385-413 ई० तक माना जाता है। तब, यह भी मानना पड़ेगा कि 380 के पहले कोई विक्रमादित्य हो गया है, जिसका अनुकरण करने पर उक्त गुप्तवंशीय सम्राट् चंद्रगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि से अपने को विभूषित किया। तख्तेवाही के शिलालेख का, जो गोंडोफोरस का है, काल 103 ई० है। तत्कालीन ईसाई कथाओं के आधार पर जो समय उसका निर्धारित होता है, उससे वह विक्रमीय संवत् ही ठहरता है। तब यह भी स्थिर हो जाता है कि उस प्राचीन काल में, शक संवत् के अतिरिक्त एक संवत् का प्रचार था—और वह विक्रमीय था। मालव लोग उसके व्यवहार में 'मालव' शब्द का प्रयोग करते थे।

चंद्रगुप्त का शकविजय

कहा जाता है, गुप्तवंशीय सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने मालव और सौराष्ट्र के पश्चिमीय क्षत्रपों को पराजित किया, जो शक थे। इसलिए यही चंद्रगुप्त विक्रमादित्य था। सौराष्ट्र में रुद्रसिंह तृतीय के बाद किसी के सिक्के नहीं मिलते; इसलिए यह माना जाता है कि इसी चंद्रगुप्त ने रुद्रसिंह को पराजित करके शकों को निर्मूल किया। पर बात कुछ दूसरी है। चंद्रगुप्त के पिता समुद्रगुप्त ने ही भारत की विजय-यात्रा की थी। हरिषेण की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि आर्य्यावर्त्त के विजित राजाओं में एक नाम रुद्रदेव भी है। संभवतः यही रुद्रदेव स्वामी रुद्रसेन था, जो सौराष्ट्र का भी क्षत्रप था। तब यह विजय समुद्रगुप्त की थी, फिर चंद्रगुप्त ने किन शकों को निर्मूल किया? चंद्रगुप्त का शिलालेख बेतवा और यमुना के पश्चिमी-तट पर नहीं मिला। समुद्रगुप्त के शिलालेख से प्रकट होता है कि उसी ने विजय-यात्रा में राजाओं को भारतीय पद्धति के अनुसार पराजित किया। तात्पर्य, कुछ लोगों से उपहार लिया, कुछ लोगों को उनके सिंहासनों पर बिठला दिया, कुछ लोगों से 'नियमित कर' लिया,

इत्यादि। चंद्रगुप्त के पहले ही यह सब हो चुका था, वस्तुतः वे सब शासन में स्वतंत्र थे। तब कैसे मान लिया जाये कि सौराष्ट्र और मालव में शकों को चंद्रगुप्त ने निर्मूल किया, जिसका उल्लेख स्वयं चंद्रगुप्त के किसी भी शिलालेख में नहीं मिलता? गुप्तवंशियों की राष्ट्रनीति सफल हुई, वे भारत के प्रधान सम्राट माने जाने लगे, पर स्वयं चंद्रगुप्त का समकालीन नरवर्म्मा (गंगाधार के शिलालेख में) और वह भी मालव का, स्वतंत्र नरेश माना जाता है। फिर मालव-चक्रवर्ती उज्जयिनी-नाथ विक्रमादित्य और सम्राट् चंद्रगुप्त, जो मगध और कुसुमपुर के थे, कैसे एक माने जा सकते हैं? चंद्रगुप्त का समय 413 ई० तक है। इधर मंदसोर वाले 424 ई० के शिलालेख में विश्ववर्म्मा और उसके पिता नरवर्म्मा स्वतंत्र मालवेश हैं। यदि मालव गुप्तों के अधीन होता तो अवश्य किसी गुप्त राजाधिराज का उसमें उल्लेख होता, जैसाकि पिछले शिलालेख में (जो 437 ई० का है) कुमारगुप्त का उल्लेख है—'वनांतवांतस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति'। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि चंद्रगुप्त का संपूर्ण अधिकार मालव पर नहीं था, वह उज्जयिनी-नाथ नहीं थे। उनकी उपाधि विक्रमादित्य थी, तब उनके पहले एक विक्रमादित्य—385 से पूर्व हुए थे। हमारे प्राचीन लेखों में भी इस प्रथम विक्रमादित्य का अनुसंधान मिलता है। 'गाथा सप्तशती'—एक प्राचीन गाथाओं का संग्रह 'हाल' भूपति के नाम से उपलब्ध है। पैठन में इसकी राजधानी थी। इसका समय ईसवीय सन् की पहली शताब्दी हैं। महामहोपाध्याय पंडित दुर्गाप्रसाद ने अभिनंद के रामचरित से—

हालेनोत्तम पूजयाकविवृषः श्रीपालितो लालितः
ख्यातिं कामपि कालिदास कवयो नीता शकारातिना—

उद्धृत करते माना है कि श्रीपालित ने अपने राजा 'हाल' के लिए यह 'गाथा सप्तशती' बनायी। इसमें एक गाथा पांचवें शतक की है—

संवाहण सुहरस तोसिएण देन्तेह तुहकरे लक्खम्।
चलणेण बिक्रमादित्त चरितं अणु सिक्खअंतिस्सा॥ 64॥

ईसा-पूर्व पहली शताब्दी में एक विक्रमादित्य हुए, इसके मानने का यह एक प्रमाण है। जैन ग्रंथ कालकाचार्य-कथा में उज्जयिनी-नाथ विक्रम

का मध्यभारत के शकों को परास्त करना लिखा है। प्रबंधकोश में लिखा है कि महावीर स्वामी के मोक्ष पाने पर 470 वर्ष बाद विक्रमादित्य हुए। भारत की परंपरागत कथाओं में प्रसिद्ध है कि विक्रमादित्य गंधर्वसेन का पुत्र था। टाड ने राजस्थान के राजकुलों का वर्णन करते हुए यह लिखा है कि तुअरवंश पांडव वंश की एक शाखा है, जिसमें संवत् प्रचारक विक्रम और अनंगपाल का जन्म हुआ था। प्राचीन ऐतिहासिक ग्रंथ 'राजावली' में दिल्ली के राजाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि दिल्ली के राजा राजपाल का राज्य कमायूं के पहाड़ी राजा शुकवंत ने छीन लिया। उसे विक्रमादित्य ने मारकर दिल्ली का उद्धार किया। इधर प्रसिद्ध विद्वान् स्मिथ ने लिखा है कि ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में शकों का उत्थान हुआ जो भारत में उसी के लगभग घुसे।

Branches of the Barbarian stream which penetrated the Indian passes, deposited settlements at Taxila in the punjab and Mathura on the Jamuna.

Yet another section of the horde at a later date perhaps about middle of the first century after Christ pushed on southwards and occupied the peninsula of Sourashtra or Kathiawar, founding a 'saka' dynasty which lasted until it was destroyed by Chandragupta Vikramaditya about A. D. 390. The Satraps of Mathura were closely connected with those of Taxila and belong to the same period about 50 B. C. or later.

पिछली शक-शाखा के संबंध में, जो सौराष्ट्र गयी, यह कहा जाता है कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने उसे निर्मूल किया, पर वास्तव में 385 ई० तक समुद्रगुप्त जीवित थे और उन्हीं के समय में 382 ई० तक के शक-सिक्के मिलते हैं। बाद के सिक्के बिना संवत् के हैं। इससे प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त के सामने क्षत्रपों का प्रताप निस्तेज हुआ, फिर बिना संवत् के सिक्के वहां प्रचलित हुए। तात्पर्य, उक्त समुद्रगुप्त के समय 385 तक ही सौराष्ट्र की शक-शाखा का ह्रास हुआ। चंद्रगुप्त का राज्यारोहण-काल

380 ई० मानते हैं। परंतु उसका सबसे पहला शिलालेख उदयगिरि का गुप्त संवत् 82 (ई० 401) का मिलता है। सौराष्ट्र के जो सिक्के चंद्रगुप्त के माने जाते हैं वे गुप्त संवत् 90 (ई० 409) के हैं, इसके पहले के नहीं। शक क्षत्रपों के अंतिम सिक्कों का समय 311-389 ई० है। अच्छा, इन सिक्कों के बाद 389 से लेकर 409 ई०-20 वर्ष तक किन सिक्कों का प्रचार रहा, क्योंकि चंद्रगुप्त के सिक्कों के देखने से उसका सौराष्ट्र-विजय 409 ई० से पहले का नहीं हो सकता (जब के उसके सिक्के हैं) फिर उदयगिरि वाला लेख भी ई० 401 के पहले का नहीं है। तब यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि चंद्रगुप्त का राज्यारोहण-काल 400 ई० के समीप होगा। परंतु 389 ई० तक के शक-क्षत्रपों के सिक्कों के मिलने के कारण चंद्रगुप्त को ही शकारि विक्रमादित्य प्रमाणित करने के लिए चंद्रगुप्त का राज्यारोहण-काल 385 या 380 अनुमान किया जाता है जिसमें सौराष्ट्र-विजय का श्रेय उसी को मिले। वास्तव में समुद्रगुप्त के ही समय में शक-विजय हुआ। हरिषेण की विजय-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के द्वारा पराजित राजाओं की नामावली में रुद्रदेव का भी उल्लेख है और यह रुद्रदेव सौराष्ट्र के शक क्षत्रपों में रहा होगा। चंद्रगुप्त ने भी पिता के अनुकरण पर विजय-यात्रा की थी, जैसाकि उसके उदयगिरि वाले शिलालेख से स्पष्ट है, परंतु उसके शासन-काल में मालव स्वतंत्र था। समुद्रगुप्त के बाद मालव और सौराष्ट्र स्वतंत्र राष्ट्र गिने जाते थे। गंगधार और मंदसोर के दोनों शिला-लेखों को देखने से सूचित होता है कि नरवर्म्मा और विश्ववर्म्मा मालव के स्वतंत्र नरेश थे। कुमारगुप्त के समय में बंधुवर्म्मा ने संभवतः 424-437 ई० के बीच गुप्त-साम्राज्य के अधीन होना स्वीकार किया।

चंद्रगुप्त के शक-विजय का उल्लेख बाणभट्ट ने भी किया है—'अरि-पुरे परकलत्रकामुकं कामिनीवेशश्चंद्रगुप्तः शकनरपतिं अशातयत्।' यह शक विजय किस प्रांत में हुआ, इसका ठीक उल्लेख नहीं, पर कुछ लोग अनुमान करते हैं कि कुशानों के दक्षिणी शक-क्षत्रप से 400 ई० के समीप प्रतिष्ठान का उद्धार चंद्रगुप्त ने किया। जब आंध्र राजाओं से लड़-झगड़-कर वे शक-क्षत्रप स्वतंत्र हो गये थे और चंद्रगुप्त ने दक्षिण के उन स्वतंत्र शकों को पराजित करने के लिए जिस उपाय का अवलंबन किया था,

उसका उल्लेख 'कथा सरित्सागर' की चौथी तरंग से भी प्रकट है। (देखें—'ध्रुवस्वामिनी' एकांकी)

मथुरा के शक शासकों का नाश, जो शकों की पहली शाखा के थे, किसने किया—इस संबंध में इतिहास चुप है। राजुबुल, षोडाश और खरंओष्ठ नाम के तीन शक नरेशों के ईसा पूर्व पहली शताब्दी में मथुरा पर शासन करने का उल्लेख स्पष्ट मिलता है। षोडाश ने आर्य्य-शासक रामदत्त से दिल्ली और मथुरा छीनकर शक-राज्य प्रतिष्ठित किया था। 'राजावली' में इसका उल्लेख है कि विक्रमादित्य ने पहाड़ी राजा शुकवंत से दिल्ली का उद्धार किया। शुकवंत संभवतः विदेशी षोडाश का ही विकृत नाम है, क्योंकि ईसा की पहली शताब्दी के बाद उस प्रांत में उन शकों का शासन निर्मूल हो गया। इन लोगों को पराजित करने वाला वही विक्रमादित्य हो सकता है—जो ईसवीय पूर्व पहली शताब्दी का हो।

जैसलमेर के इतिहास में भट्टियों का वर्णन यहां बड़े काम का है। उन्होंने लिखा है कि विक्रमीय संवत् 27 में गजनी-पति गज का पुत्र शालिवाहन मध्य-एशिया की क्रांतियों से विताड़ित होकर भारतवर्ष चला आया, और उसने पंजाब में शलिवाहनपुर (**शालपुर या शाकल**) नाम की राजधानी बसायी। स्मिथ ने जिस दूसरी शक-शाखा का उल्लेख किया है, उसके समय से भट्टियों के इस शालिवाहन का समय ठीक-ठीक मिल जाता है। शकों के दूसरे अभियान का नेता वही शालिवाहन था, जिसके संबंध में 'भविष्य पुराण' में लिखा है—

एतस्मिनन्तरे तत्र शालिवाहन भूपतिः।
विक्रमादित्य पौत्रस्य पितृराज्यं गृहीतवान्॥

कुछ लोग 'पौत्रश्च' अशुद्ध पाठ द्वारा भ्रांत अर्थ निकालते हैं जो असंबद्ध है। विक्रमादित्य के पौत्र का राज्य अपहरण करने वाला शालिवाहन विदेशी था। प्रबंध चिंतामणि में भी शालिवाहन को नागवंशीय लिखा है। गजनी से आया हुआ शालिवाहन एक शक था। संभवतः उसी ने शक-राज्य की स्थापना की और शक-संवत् का प्रचार किया। इसके पिता के ऊपर जिस खुरासान के फरीदशाह के आक्रमण की बात कही जाती है, वह पार्थियानरेश 'मिथ्राडोटस' का पुत्र 'फराटस' द्वितीय रहा

होगा।

उस काल में युवेची, पार्थियन और शकों में भयानक संघर्ष चल रहा था। गजनी के शकों को भी इसी कारण अपना देश छोड़कर रावी एवं चनाव के बीच में 'शाकल' बसाना पड़ा। मिथ्राडोटस द्वितीय आदि के शासन-काल में भारतवर्ष में उत्तर-पश्चिमी भू-भाग बहुत दिनों तक इन्हीं शकों के अधिकार में रहा। कभी पार्थियन, कभी शक और कभी युवेची जाति की प्रधानता हो जाती थी। उसी समय में मालवों को पराजित करके शकों ने पंजाब में अपने राज्य की स्थापना की थी। स्मरण रखना होगा कि मालव से यहां उस राष्ट्र का संबंध है जो पाणिनी के समय में मालव-क्षुद्रकगण कहे जाते थे और सिकंदर के समय में 'Malloi and Azodrapai' के नाम से अभिहित थे।

इस प्राचीन मालव की सीमा पंजाब में थी। विक्रमादित्य और शकों का प्रथम कहरूर-युद्ध मुलतान से 50 मील दक्षिण-पूर्व में हुआ और शालि-वाहन के नेतृत्व में शकों के आक्रमण से मालवों को दक्षिण की ओर हटना पड़ा। संभवत: वर्तमान मालव देश उसी काल में मिलाया गया और जहां पर इन मालवों ने शकों से पराजित होकर अपनी नयी राजधानी बसायी, वह मंदसोर और उज्जयिनी थी।

शालिवाहन की इस विजय के बाद उसी के वंश के लोग राजस्थान से होते हुए सौराष्ट्र तक फैल गये और वे पश्चिमीय क्षत्रप के नाम से प्रसिद्ध हुए। चष्टन और नहपान आदि दक्षिण तक इसकी विजय-वैजयंती ले गये। नहपान को कुंतलेश्वर सातकर्णि ने पराजित किया। 'कथा-सरित्सागर' से पता चलता है कि भरुकच्छ देश से भी शकों की सत्ता सातकर्णि ने उठा दी और 'कालाप' व्याकरण के प्रवर्त्तक शर्ववर्म्मा को वहां का राज्य दिया। शालिवाहन के सेनापतियों ने दक्षिण में शक-संवत् का अपने शासन-बल से प्रचार किया। उत्तरी भारत में आक्रमण और संघर्ष बराबर होते रहे, इस-लिए उज्जयिनी में वे अधिक समय तक न ठहर सके। शक क्षत्रपों ने सौराष्ट्र में अपने को दृढ़ किया और नवीन मालव—जिसे दक्षिण मालव भी कहते हैं—शीघ्र स्वतंत्र होने के कारण अपने पूर्व-व्यवहृत मालव-संवत् का ही उपयोग करता रहा।

ऊपर के प्रमाणों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि प्रथम विक्रमादित्य—गंधर्वसेन का पुत्र—मालवगण का प्रमुख अधिपति रहा। उसने मथुरा वाली शकशाखा का नाश किया और दिल्ली का उद्धार करके जैत्रपाल को वहां का राज्य दिया।

संवत् 1699 अगहन सुदी पंचमी की लिखी हुई 'अभिज्ञान शाकुंतल' की प्राचीन प्रति से जो पं० केशव प्रसाद जी मिश्र (भदैनी, काशी) के पास है, दो स्थलों के नवीन पाठों का अवतरण यहां दिया जाता है—

(1) 'आर्ये रसभाववशेषु दीक्षागुरोः श्रीविक्रमादित्य **साहसांकस्याभिरूप** भूयिष्ठेयं परिषत् अस्यां च कालिदास प्रयुक्तेनाभिज्ञान-शाकुन्तलम् नाम्नानवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः।'

(2) 'भवतु तवबिडौजः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथा
गणशत परिवर्तैरेवमन्योन्य कृत्यै
र्नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैं'

इसमें दोनों काले शब्दों पर ध्यान देने से दो बातें निकलती हैं। पहली यह है कि जिस विक्रमादित्य का उल्लेख शाकुंतल में है, उसका नाम विक्रमादित्य है और 'साहसांक' इसकी उपाधि है। दूसरे भरत वाक्य में 'गण' शब्द के द्वारा इंद्र और विक्रमादित्य के लिए यज्ञ और गण राष्ट्र—दोनों की ओर कवि का संकेत है। इसमें राजा या सम्राट् जैसा कोई संबोधन विक्रमादित्य के लिए नहीं है। तब यह विचार पुष्ट होता है कि विक्रमादित्य मालव गणराष्ट्र का प्रमुख नायक था, न कि कोई सम्राट् या राजा। कुछ लोग जैत्रपाल को विक्रमादित्य का पुत्र बताते हैं। हो सकता है, इसी के एकाधिपत्य से मालवगण में फूट पड़ी हो और शालिवाहन के द्वितीय शक-आक्रमण में वे पराजित हुए हों।

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य मालव का अधिपति नहीं था, वह पाटलिपुत्र का विक्रमादित्य था। उसने स्त्री-वेश धारण करके किसी शक-नरपति को मार डाला था। पर पश्चिमी मालवा और सौराष्ट्र उसके समय में भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते थे, क्योंकि नरवर्म्मा और विश्ववर्म्मा का मालव में और स्वामी रुद्रसिंह आदि तीन स्वतंत्र नरपति-नाम सौराष्ट्र के

शकों के मिलते हैं। इसके लेख आक, उदयगिरि और गोपाद्रि तक ही मिलते हैं। जैसा विक्रमादित्य का चरित्र है, उसके विरुद्ध इसके संबंध में कुछ गाथाएं मिलती हैं। अपने पिता समुद्रगुप्त की विजयों के आधार पर और किसी शक-नरपति को मारकर, इसने भी पहली बार विक्रमादित्य की उपाधि धारण कर ली थी। यह असली विक्रमादित्य के बराबर अपने को समझता था।

'कथा सरित्सागर' और 'हर्षचरित्र' से लिये गये अवतरणों पर ध्यान देने से यह विदित होता है कि यह शक-विजय किसी छल से मिली थी। तुआर (शिवप्रसाद के मतानुसार पंवार) या मालवगण के प्रमुख अधीश्वर से भिन्न यह पाटलिपुत्र का विक्रमादित्य चंद्रगुप्त था, जिसका समय 385 (400 ?) से प्रारंभ होकर 413 ई० तक था।

कुछ लोगों का मत था कि मालव का यशोधर्म्म देव तीसरा विक्रमादित्य था, परंतु जिस 'राजतरंगिणी' से इसके विक्रमादित्य होने का प्रमाण दिया जाता है, उसमें यशोधर्म्म के साथ विक्रम शब्द का कोई उल्लेख नहीं है। उसके शिलालेखों, सिक्कों में भी इसका नाम नहीं है। यशोधर्म्म के जयस्तंभ में हूण मिहिरकुल को पराजित करने का प्रमाण मिलता है, परंतु यह शकारि नहीं था। यह अनुमान भी भ्रांत है कि इसी यशोधर्म्म देव ने मालव-संवत् के साथ विक्रम नाम जोड़कर विक्रम-संवत् का प्रचार किया, क्योंकि उसी के अनुचरों के शिलालेख में मालवगण-स्थिति का स्पष्ट उल्लेख है—

'पंचसु शतेसु शरदां यातष्वेकान्नवति सहितेषु।
मालवगण स्थिति वशात् कालज्ञानाय लिखितेषु॥'

अलबेरूनी के लेख से यह भ्रम फैला है, परंतु वही अपनी पुस्तक में दूसरी जगह कहरूर युद्ध के विजेता विक्रमादित्य से संवत् प्रचारक विक्रमादित्य को भिन्न मानकर अपनी भूल स्वीकार करता है। डॉक्टर हार्नली और स्मिथ कहरूर युद्ध के समय में मतभेद रखते हैं। हार्नली उसे 544 में और स्मिथ 528 ई० में मानते हैं। कहरूर का रणक्षेत्र कई युद्धों की रंग-स्थली है—जैसाकि पिछले काल में पानीपत। शकों और हूणों के आक्रमण काल में प्रथम विक्रमादित्य-स्कंदगुप्त और यशोधर्म्म ने वहीं विजय प्राप्त

की। अलबेरूनी ने पिछले युद्ध का ही विवरण सुनकर अपने को भ्रम में डाल दिया। जिन लोगों ने यशोधर्म्म देव को 'विक्रमादित्य' सिद्ध करने की चेष्टा की है वे 'राजतरंगिणी' का नीचे लिखा हुआ अवतरण प्रमाण में देते हैं—

'उज्जयिन्यां श्रीमान्हर्षापराभिधः एकच्छत्रश्चक्रवर्ती विक्रमादित्य इत्यभूत'—इस श्लोक के 'श्रीमान् हर्ष' पर भार डालकर असंभावित अर्थ किया जाता है; पर हर्ष विक्रमादित्य से यशोधर्म्म का क्या संबंध है, यह स्पष्ट नहीं होता। इसी हर्ष विक्रमादित्य के लिए कहा जाता है कि उसने मातृगुप्त को काश्मीर का राज्य दिया। परंतु इतिहास में पांचवीं और छठी शताब्दी में किसी हर्ष नामक राजा के उज्जयिनी पर शासन करने का उल्लेख नहीं मिलता। बहुत दिनों बाद ईसवीय सन् 970 के समीप मालव में श्रीहर्षदेव परमार का राज्य करना मिलता है। राजतरंगिणी के अनुसार उक्त हर्ष-विक्रमादित्य का काल वही है जब काश्मीर में गांधार वंश का 'तोरमाण' युवराज था। तोरमाण के शिलालेखों से यह सिद्ध हो जाता है कि उसके पिता तुंजीन व प्रवरसेन का समकालीन स्कंदगुप्त मालव का शासक हो सकता है। तब क्या आश्चर्य है कि लेखक के प्रमाद से, राजतरंगिणी में हर्ष का उल्लेख हो गया हो, और शुद्ध पाठ 'श्रीमान् स्कंदापराभिधः' हो। क्योंकि इसी तोरमाण ने 500 ई० में गुप्तवंशियों से मालव ले लिया था तब मातृगुप्त वाली घटना 500 ई० के पहले की है। जो लोग यशोधर्म्म को विक्रमादित्य मानते हैं, वे यह भी कहते हैं कि मिहिरकुल को पराजित करने में यशोधर्म्म और नरसिंहगुप्त-बालादित्य दोनों का हाथ था, परंतु यह भी भ्रम है। नरसिंहगुप्त 528 या 544 ई० तक जीवित नहीं थे। यशोधर्म्म का समकालीन बालादित्य द्वितीय हो सकता है।

श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने अपने विद्वत्तापूर्ण लेख में यह प्रमाणित किया है कि यशोधर्म्म कल्कि थे। कल्किपुराण (जीवानंद संस्करण) में लिखा है—

प्रसीद जगतांनाथ धर्मवर्म्म रमापते ।।**अध्याय 3**।।
मुने किमत्र कथनं कल्किना धर्मवर्म्मणा ।। **अध्याय 4** ।।

तब 'राजतरंगिणी' का यह अवतरण और भी हमारे मत को पुष्ट करता है

कि यशोधर्म्मदेव से पहले विक्रमादित्य हुए थे—

म्लेच्छोच्छेदाय वसुधां हरेरवतरिष्यतः।
शकान्विनाश्य येनादौ कार्य्य भारो लघूकृतः॥ तरंग 3॥

भावी कल्कि यशोधर्म्म के कार्य-भार को लघु कर देने वाले विक्रमादित्य उनसे साठ वर्ष पहले ही हुए थे, और वह थे—श्रीविक्रमादित्य स्कंदगुप्त। इस तरह 'राजतरंगिणी' के 'श्रीमान् हर्षापराभिधः' के शुद्ध पाठ से 'श्रीमान् स्कंदपराभिधः' की संगति भी लग जाती है।

इन तीसरे विक्रमादित्य स्कंदगुप्त के संबंध में 'कथासरित्सागर' का विषम शील लंबक सविस्तार वर्णन करता है। उज्जयिनीनाथ (महेंद्रादित्य) का पुत्र यह विक्रमादित्य 'म्लेच्छाक्रांते च भूलोके' उत्पन्न हुआ और इसने—

'मध्यदेशः सः सौराष्ट्रः स बङ्गाङ्गा च पूर्व दिक्
स काश्मीरान्सकौबेरी काष्ठाश्च करदेकृता
म्लेच्छसंघाश्च निहताः शेषाश्च स्थापिता वशे'

इतिहास में सम्राट् कुमारगुप्त की उपाधि महेंद्रादित्य प्रसिद्ध है। इसके चांदी के सिक्कों पर 'परम भागवत महाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्त महेंद्रादित्य स्पष्ट लिखा मिलता है। इसी के समय में मालव के स्वतंत्र नरेश विश्ववर्म्मा के पुत्र बंधुवर्म्मा ने अधीनता स्वीकार कर ली। विक्रमाब्द 480 तक, गंगधार के शिलालेख द्वारा मालव का स्वतंत्र रहना प्रमाणित है, परंतु 529 विक्रमाब्द वाले मंदसोर के शिलालेख में 493 विक्रमीय में कुमारगुप्त की सार्वभौम सत्ता मान ली गयी। इससे प्रतीत होता है कि इसी काल में मालव गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित हुआ। चंद्रगुप्त द्वितीय के समय में नरवर्म्मा और विश्ववर्म्मा मालव के स्वतंत्र नरेश थे। कुछ लोगों का अनुमान है कि नर्मदा के निकटवर्ती पुष्यमित्रों ने जब गुप्त साम्राज्य से युद्ध प्रारंभ किया था तभी कुमार स्कंदगुप्त के नेतृत्व में गुप्त साम्राज्य की सेना ने उज्जयिनी पर अधिकार किया। इन्हीं स्कंदगुप्त का सिक्कों में 'परम भागवत श्री विक्रमादित्य स्कंदगुप्त' के नाम से उल्लेख मिलता है। इनके शिलालेख से प्रकट है कि कुललक्ष्मी विचलित थी, म्लेच्छों और हूणों से आर्य्यावर्त्त आतंकित था। अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए इन्होंने

पृथ्वी पर सोकर रातें बितायीं। हूणों के युद्ध में जिसके विकट पराक्रम से धरा विकंपित हुई, जिसने सौराष्ट्र के शकों का मूलोच्छेद करके पर्णदत्त को वहां का शासक नियत किया—वे स्कंदगुप्त ही थे– जूनागढ़ वाले लेख में इसका स्पष्ट उल्लेख है। स्कंदगुप्त की प्रशंसा में उसमें लिखा है—

'अपिच जितमिव तेन प्रथयन्ति यशांसि यस्य
रिपवोप्यामूल भग्नदर्पा निर्वचना म्लेच्छदेशेषु'

पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने 'सुदर्शन झील' का संस्कार कराया था, इससे अनुमान होता है कि अंतिम शक-क्षत्रप रुद्रसिंह की पराजय वाली घटना ईसवीय सन् 457 के करीब हुई थी। स्कंदगुप्त को सौराष्ट्र के शकों और तोरमाण के पूर्ववर्त्ती हूणों से लगातार युद्ध करना पड़ा। इधर वैमातृक भाई-पुरगुप्त से आंतरिक द्वंद्व भी चल रहा था। उस समय की विचलित राजनीति को स्थिर करने के लिए प्राचीन राजधानियों—पाटलिपुत्र या अयोध्या से दूर—एक केंद्रस्थल में अपनी राजधानी बनाना आवश्यक था। इसलिए वर्तमान मालव की मौर्य्यकाल की अवंती नगरी को ही स्कंदगुप्त ने अपने साम्राज्य का केंद्र बनाया और शकों तथा हूणों को परास्त करके उत्तरीय भारत से हूणों तथा शकों का राज्य निर्मूल कर 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की।

'विक्रमादित्य' उपाधि के लिए शकों का नाश करना एक आवश्यक कार्य था। पिछले काल में इसीलिए विक्रमादित्य का एक पर्याय 'शकारि' भी प्रचलित था और स्कंदगुप्त के समय में सौराष्ट्र के शकों का विनाश होना चक्रपालित के शिलालेख से स्पष्ट है परंतु यशोधर्म्म के समय में शकों का राज्य कहीं न था। यही बात 'राज-तरंगिणी' के 'शकान्विनाश्य येनादौ कार्य्य भारो लघूकृत:' से भी ध्वनित होती है। मंदसोर वाले स्तंभ में यशोधर्म्म का शकों के विजय करने का उल्लेख नहीं है, हूणों के विजय का है। मंदसोर के यशोधर्म्म के विजय स्तंभ का भी वही समय है जो वराहदास या विष्णुवर्द्धन के शिलालेख का है। गोविंद की उत्कीर्ण की हुई दोनों प्रशस्तियां हैं। उसका समय 532 ई० का है। मिहिरकुल ही भारी विदेशी शत्रु था, यह बात उक्त जयस्तंभ से प्रतीत होती है। मिहिरकुल 532 ई० के पहले पराजित हो चुका था तब वह कौन-सा युद्ध 544 में हुआ था—यह

नहीं कहा जाता, जिसके द्वारा यशोधर्म्म के 'विक्रम' होने की घोषणा की जाती है; इसीसे हार्नली के विरुद्ध स्मिथ ने यशोधर्म्म द्वारा मिहिरकुल के पराजित होने का काल 528 ई० माना है। परंतु वे इस युद्ध को 'कहरूर-युद्ध' कहकर संबोधित नहीं करते। कहरूर 544 ई० में नहीं हुआ जैसाकि फर्गसन, कीलहार्न, हार्नली आदि का मत है, प्रत्युत् पहले—बहुत पहले 458 ई० के समीप दूसरी बार हो चुका है। संभवतः सौराष्ट्र के शक रुद्रसिंह और गांधार के हूण तुञ्जीन की सम्मिलित वाहिनी को 'कहरूर-युद्ध' में पराजित कर स्कंदगुप्त ने आर्य्यावर्त्त की रक्षा की थी। अच्छा, जब 528 ई० में मिहिरकुल पर विजय निश्चित-सी है तब 'कहरूर-युद्ध' के ऊपर विक्रमादित्य को यशोधर्म्म मानने वाला सिद्धांत निर्मूल हो जाता है, क्योंकि 532 के विजयस्तंभ तथा शिलालेख में मालवगण स्थिति का उल्लेख है—विक्रम-संवत् का नहीं और 532 के पहले ही यशोधर्म्म हूण विजय करके सम्राट् आदि पदवी धारण कर चुका था; फिर 544 ईसवीय के किसी काल्पनिक युद्ध की आवश्यकता नहीं है।

'राजतरंगिणी' और 'सुंगयुन' के वर्णन मिलाने पर प्रतीत होता है कि हूणों का प्रधान केंद्र गांधार था। वहीं से हूण राजकुमार अपनी विजयिनी सेना लेकर भिन्न-भिन्न प्रदेशों में राज्य स्थापन करने गये। राजतरंगिणी का क्रम देखने से तीन राजाओं का नाम आता है—मेघवाहन, तुञ्जीन और तोरमाण। गांधार के मेघवाहन के समय में काश्मीर उसके शासन में हो गया था। उसके पुत्र तुञ्जीन ने काश्मीर की सूबेदारी की थी। यही तुञ्जीन प्रवरसेन के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसने झेलम पर पुल बनवाया। 'सेतुबंध' नामक प्राकृत काव्य इसी के नाम से अंकित है। गांधार-वंशीय हूण का समय और स्कंदगुप्त का समय एक है, क्योंकि उसके पुत्र तोरमाण का काल 500 ई० स्मिथ ने सिद्ध किया है। संभवतः स्कंदगुप्त के द्वारा हूणों से काश्मीर राज्य निकल जाने पर मातृगुप्त वहां का शासक था।

यह उज्जयिनी नाथ, कुमारगुप्त-महेंद्रादित्य का पुत्र स्कंदगुप्त-विक्रमादित्य ही था—जिसने सौराष्ट्र आदि से शकों का और काश्मीर तथा सीमा-प्रांत से हूणों का राज्य-ध्वंस किया और सनातन आर्य्य-धर्म्म की रक्षा की—

म्लेच्छों से आक्रांत भारत का उद्धार किया। 'भितरी' के स्तंभ में अंकित —'जयति भुजबलाढ्यो गुप्तवंशैकवीरः। प्रथित विपुलधामा नामतः स्कंदगुप्तः। विनयबलसुनीतैर्विक्रमेण क्रमेण' से स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्कंदगुप्त-विक्रमादित्य ही द्वितीय 'कहरूर-युद्ध' का विजेता— 'तृतीय विक्रम' है।

पिछले काल के स्वर्ण के सिक्कों को देखकर लोग अनुमान करते हैं कि उसी के समय में हूणों ने फिर आक्रमण किया और स्कंदगुप्त पराजित हुए। वास्तव में ऐसी बात नहीं। तोरमाण के शिलालेखों के संवत् को देखने से यह विदित होता है कि स्कंदगुप्त पहले ही निधन को प्राप्त हुए, और दुर्बल पुरगुप्त के हाथों में पड़कर तोरमाण के द्वारा गुप्त साम्राज्य का विध्वंस किया गया और गोपाद्रि तक उसके हाथ में चले गये।

कालिदास

विक्रम के साथ कालिदास का कुछ ऐसा संबंध है कि एक का समय निर्धारण करने में दूसरे की चर्चा आवश्यक-सी हो जाती है। यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि 57 ईसवीय पूर्व में मालव के प्रथम विक्रमादित्य हुए, और दूसरे विक्रमादित्य का समय 385 (400 ?) ईसवीय से 413 ईसवीय तक है। इनका संपूर्ण नाम श्री चंद्रगुप्त विक्रमादित्य है। ये मगध के सम्राट् थे। संभवतः इन्होंने अयोध्या को अपनी राजधानी बनायी थी। तीसरे विक्रमादित्य श्री स्कंदगुप्त विक्रमादित्य थे। वर्तमान मालव के प्रधान नगर उज्जयिनी को उन्होंने अपनी राजधानी बनायी थी। गुप्त राजवंश के अंतर्कलह का निवारण करने के लिए और हूणों तथा शकों से प्रायः मुठभेड़ रहने के कारण इन्हें मगध और कोशल छोड़ना पड़ा। कालिदास के संबंध में भी राजशेखर का एक श्लोक जल्हण की 'सूक्ति मुक्तावली' और हरि-कवि की 'सुभाषितावली' में मिलता है—

'एकोपि जीयते हंत कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु'

एकादश शताब्दी में उत्पन्न हुए, राजशेखर की इस उक्ति से यह प्रकट

होता है कि उस शताब्दी तक तीन कालिदास हो चुके थे। परंतु वर्तमान आलोचकों का मत है कि कालिदास दो तो अवश्य हुए हैं एक 'रघुवंश' 'शाकुंतल' आदि के कर्त्ता, और दूसरे नलोदय तथा 'पुष्पबाण' विलास आदि के रचयिता।

यह विभाग साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से किया गया है। श्रृंगार तिलक जैसे साधारण ग्रंथों को महाकवि कालिदास की कृति ये लोग नहीं मानना चाहते इसलिए एक छोटे कालिदास को मान लेना पड़ा। बड़े कालिदास के लिए कुछ समीचीन समालोचकों का मत है कि ये 'शाकुंतल' और 'रघुवंश' के कर्त्ता, चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समय में हुए। इनका मत है कि 'आसमुद्र क्षितीशानाम्' 'इदं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यैः' 'ज्योतिष्मतीचंद्रमसैव रात्रिः' इत्यादि स्थानों में 'इंदु' और 'चंद्र' शब्दों से समुद्रगुप्त के वंशधर चंद्रगुप्त द्वितीय की ओर कालिदास का संकेत है। और इसलिए महाकवि कालिदास मगध के गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय के राजकवि थे।

इधर परांजपे आदि विद्वानों का मत है कि कालिदास ने 'मालविकाग्नि मित्र' में शुंगों के इतिहास का सूक्ष्म विवरण दिया है जैसाकि उस काल में बहुत ही थोड़े समय के पीछे का कवि लिख सकता है। पटवर्धन और वैद्य महोदय कालिदास को 57 ईसवीय पूर्व का मानते हैं। और भी कई विद्वान् इसके समर्थक हैं।

काव्यों में ज्योतिष संबंधी जामित्र और होरा आदि ज्योतिषशास्त्र संबंधी शब्दों को देखकर कुछ लोगों का अनुमान है कि 'रघुवंश' आदि के रचयिता कालिदास छठी शताब्दी में रहे होंगे। उनके नाम से प्रसिद्ध 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रंथ को भी ज्योतिष संबंधी गणनाओं के अनुसार अनेक लोगों ने यह स्थिर किया है कि यह ग्रंथ भी छठी शताब्दी का है, इसलिए इन ग्रंथों के रचयिता कालिदास छठी शताब्दी में उत्पन्न हुए और वे यशोधर्म्मदेव के सभासद थे। इस तरह महाकवि कालिदास के संबंध में तीन सिद्धांत प्रचलित हैं—

(1) 57 ईसवीय पूर्व में मालव में कालिदास हुए।
(2) ईसा के चौथे शतक में चंद्रगुप्त द्वितीय मगध नरेश के समकालीन

कालिदास थे।

(3) मालव नरेश यशोधर्म्मदेव के सभासद थे।

'शृंगार तिलक' आदि ग्रंथों के कर्त्ता कालिदास को प्रायः सब लोग इन महाकवि कालिदास से भिन्न और सबसे पीछे का—संभवतः नवम् या दशम् शताब्दी का मानते हैं। हम महाकवि कालिदास के संबंध में ही विवेचन किया चाहते हैं।

मालव के प्रथम विक्रमादित्य को लोग इसलिए नहीं मानते कि उनका कहीं ऐतिहासिक उल्लेख उन लोगों को नहीं मिला, और विक्रम-संवत् प्राचीन शिलालेखों में मालवगण के नाम प्रचलित हैं। परंतु ऊपर यह प्रमाणित किया गया है कि वास्तव में 57 ई० पूर्व में एक विक्रमादित्य हुए। इस मत को न मानने वाले विद्वानों ने विक्रमादित्य को 'चंद्रगुप्त द्वितीय' कहकर कालिदास का समय निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। 'रघुवंश' में जिस संकेत से गुप्तवंशी सम्राटों का उल्लेख है, उसकी संगति इस प्रकार लगायी गयी। परंतु आश्चर्य की बात है कि चंद्रगुप्त का समय प्रमाणित करने के लिए जो अवतरण दिये गये हैं उनमें चंद्रगुप्त का तो स्पष्ट उल्लेख है ही नहीं, हां, कुमारगुप्त और स्कंदगुप्त का उल्लेख अधिक और स्पष्ट है। यदि वे सब संकेत भी गुप्तवंशियों के ही संबंध में मान लिए जायें, तो यह समझ में नहीं आता कि चंद्रगुप्त द्वितीय के समसामयिक कवि ने भावी राजाओं का वर्णन कैसे कर दिया, जबकि गुप्तवंश में उत्तराधिकार का नियम निश्चित नहीं था कि ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी हो? समुद्रगुप्त अपनी योग्यता से ही युवराज हुए और चंद्रगुप्त भी, तब रघुवंश में कुमार और उनके बाद स्कंदगुप्त का वर्णन कैसे आया? चंद्रगुप्त के समय गुप्त साम्राज्य का यौवनकाल था, फिर अग्निवर्ण जैसे राजा का चरित्र दिखाकर 'रघुवंश' का अंत—चंद्रगुप्त के समसामयिक और उनकी सभा के कालिदास—कैसे लिख सकते हैं? वास्तव में रघुवंश की-सी दशा गुप्तवंश की हुई। अग्निवर्ण के समान ही पिछले गुप्तवंशी विलासी और हीन वैभव हुए। तब यह मानना पड़ेगा कि गुप्तवंश का ह्रास भी कालिदास ने देखा था, और—तब रघुवंश की रचना की थी।

ईसवी पूर्व पहली शताब्दी के कालिदास के लिए भी उधर प्रमाण

मिलते हैं। **इसलिए यह समस्या उलझती जा रही है, इसका मूल कारण है—एक ही कालिदास को काव्य और नाटकों का कर्त्ता मान लेना। हमारी सम्मति में काव्यकार कालिदास और नाटककार कालिदास भिन्न-भिन्न थे और नलोदय आदि के कर्त्ता कालिदास अंतिम और तीसरे थे।** इस प्रकार जल्हण की 'कालिदास-त्रयी' का भी समर्थन हो जाता है। और, सब पक्षों के प्रमाणों की संगति भी लग जाती है। यद्यपि 'शाकुंतल' और 'रघुवंश' का श्रेय एक ही कालिदास को देने का संस्कार बहुत ही प्राचीन है। विश्व साहित्य के इन दो ग्रंथ-रत्नों का कर्त्ता एक कालिदास को न मानने से श्रद्धा बंट जाने का भय इसमें बाधक है। परंतु पक्षपात और रूढ़ि को छोड़कर विचार करने से यह बात ठीक ही जंचेगी। हम ऊपर कह आये हैं कि कालिदास तीन हुए, परंतु जो लोग दो ही मानते हैं, वे ही बता सकते हैं कि प्रथम कालिदास तो महाकवि हुए और उन्होंने उत्तमोत्तम नाटक तथा काव्य बना डाले, अब वह कौन-सी बची हुई कृति है जिस पर द्वितीय कवि को 'कालिदास' की उपाधि मिली ? क्योंकि यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि कालिदास की उपाधि 'कालिदास' थी, न कि उनका नाम कालिदास था। जैसी प्रायः किसी वर्तमान कवि को, उसकी शैली की उत्तमता देखकर किसी प्राचीन उत्तम कवि के नाम से संबोधित करने की प्रथा-सी हैं। **अस्तु ! हम नाटककार कालिदास को प्रथम और ईसा पूर्व का कालिदास मानते हैं। कारण—**

(1) नाटककार कालिदास ने गुप्तवंशीय किसी राजा का संकेत से भी उल्लेख अपने नाटकों में नहीं किया।

(2) 'रघुवंश' आदि असुरों के उत्पात और उनसे देवताओं की रक्षा के वर्णन से भरा साहित्य है। नाटकों में उस तरह का विश्लेषण नहीं। काव्यकार कालिदास का समय हूणों के उत्पात और आतंक से पूर्ण था। नाटकों में इस भाव का विकास इसलिए नहीं है कि वह शकों के निकल जाने पर सुख-शांति का काल है। 'मालविकाग्निमित्र' में सिंधु-तट पर विदेशी यवनों का हराया जाना मिलता है। यवनों का राज्य उस समय उत्तरी भारत से उखड़ चुका था। 'शकुंतला' में हस्तिनापुर के सम्राट् 'वनपुष्प' माला-धारिणी यवनियों से सुरक्षित दिखायी देते हैं। यह संभवतः उस

प्रथा का वर्णन है जो यवन सिल्यूकस-कन्या से चंद्रगुप्त का परिणय होने पर मौर्य्य और उसके बाद शुग-वंश में प्रचलित रही हो। यवनियों का व्यवहार क्रीत दासी और परिचारिकाओं के रूप में राजकुल में था। यह काल ईसा पूर्व पहली शताब्दी में रहा होगा। नाटककार कालिदास 'मालविकाग्निमित्र' में राजसूय का स्मरण करने पर भी बौद्ध प्रभाव से मुक्त नहीं थे। क्योंकि शकुंतला में धीवर के मुख से कहलाया है—'पशुमारणकर्म्म दारुणोप्यनुकम्पा मृदुरेव श्रोत्रिय:'—और भी—'सरस्वती श्रुतिर्महती न हीयताम्'—इन शब्दों पर बौद्ध धर्म की छाप है। नाटककार ने अपने पूर्ववर्त्ती नाटककारों के जो नाम लिए हैं, उनमें सौमिल्ल और कविपुत्र के नाट्यरत्नों का पता नहीं। भास के नाटकों को चौथी शताब्दी ईसा पूर्व माना गया है।

(3) नाटककार ने 'मालविकाग्निमित्र' की कथा का जिस रूप में वर्णन किया है, वह उसके समय से बहुत पुरानी नहीं जान पड़ती। शुंगवंशियों के पतन-काल में विक्रमादित्य का मालवगण के राष्ट्रपति के रूप में अभ्युदय हुआ। उसी काल में कालिदास के होने से शुंगों की चर्चा बहुत ताजी-सी मालूम होती है।

(4) 'जामित्र' और 'होरा' इत्यादि शब्द जिनका प्रचार भारत में ईसा की पांचवीं शताब्दी के समीप हुआ, नाटक में नहीं पाये जाते और 'शाकुंतल' की जिस प्रति का हम उल्लेख कर चुके हैं उसमें स्पष्टरूपेण विक्रमादित्य से गणराष्ट्र का संबंध संकेतिक है और कालिदास का उस नाटक का स्वयं प्रयोग करना भी ध्वनित होता है। यह अभिनय 'साहसांक' उपाधिकारी विक्रमादित्य नाम के मालव-गणपति की परिषद् में हुआ था। इसलिए नाटककार कालिदास ईसा पूर्व पहली शताब्दी के हैं।

(5) नाटकों की प्राकृत में मागधी-प्रचुर प्राकृत का प्रयोग है। उस प्राकृत का प्रचार भारत में सैकड़ों वर्ष पीछे कहां था? पांचवीं-छठी शताब्दी में महाराष्ट्री प्राकृत प्रारंभ हो गयी थी और उस काल के ग्रंथों में उसी का व्यवहार मिलता है। 'शाकुंतल' आदि की प्राकृत में बहुत से प्राचीन प्रयोग मिलते हैं जिनका व्यवहार छठी शताब्दी में नहीं था।

इसलिए नाटककार कालिदास का होना, विक्रमादित्य प्रथम (मालव-

पति) के समय— ईसा पूर्व पहली शताब्दी में ही निर्धारित किया जा सकता है।

काव्यकार कालिदास अनुमान से पांचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जीवित थे। वे काश्मीर के थे, ऐसा लोगों का मत है। 'मेघदूत' में जो अलका का वर्णन है, वह काश्मीर-वियोग का वर्णन है। यदि ये काश्मीर के न होते तो विल्हण को यह लिखने का साहस न होता—

'सहोदरा कंकुमकेसराणां सार्धन्तनूनं कविताविलासा।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मयाप्ररोहः॥'

पांच सौ वर्ष के प्राचीन 'पराक्रम वाहु चरित्र' में इसका उल्लेख है कि सिंहल के राजकुमार धातुसेन (कुमारदास) से कालिदास की बड़ी मित्रता थी। उसने कालिदास को वहां बुलाया। (महावंश के अनुसार इनका राज्य-काल 511 से 524 ई० तक है) यह राजा स्वयं अच्छा कवि था। 'जानकी हरण' इसका बनाया हुआ ग्रंथ है।

'जानकी हरणं कर्त्तु रघुवंशे स्थिते सति
कवि कुमारदासो वा रावणो वा यदिक्षमः'

सोढ्ढल की बनायी हुई 'उदय-सुंदरी-कथा' में एक श्लोक है—

'ख्यातः कृती कोपि च कालिदासः शुद्धा सुधास्वादुमती च यस्य
वाणीमिषाच्चण्ड मरीचिगोत्र सिन्धोः परम्पारमवाप कीर्तिः।
वभूवुरन्येपि कुमारदासः'—इत्यादि।

हमारा अनुमान है कि 'सिंधोः परंपार' में कालिदास और कुमारदास के संबंध की ध्वनि है।

'ज्योतिर्विदाभरण' को बहुत-से लोग ईसवीय छठीं शताब्दी का बना हुआ मानते हैं और हम भी कहते हैं कि वह ईसवीय पांचवीं शताब्दी के अंत और छठी के प्रारंभ में होने वाले कालिदास की कृति है। नाटककार के पीछे भिन्न एक दूसरे कालिदास के होने का, और केवल काव्यकार का, उसमें एक स्पष्ट प्रमाण है।

काव्यत्रयं सुमतिकृद्रघुवंश पूर्वं पूर्वं ततोननुकियच्छ्रुतिकर्म्मवादः।
ज्योतिर्विदाभरण कालविधानशास्त्रं श्रीकालिदास कवितोहि ततोबभूव॥

इस श्लोक में छठी और पांचवीं शताब्दी के ज्योतिर्विदाभरणकार कालिदास अपने को केवल काव्यत्रयी का ही कर्त्ता मानते हैं, नाटकों का नाम नहीं लिया है। इसलिए यह दूसरे कालिदास—नृपसखा कालिदास या दीपशिखा कालिदास कहिए—पांचवीं-छठी शताब्दी के कालिदास हैं। 'अस्तिकश्चिद्वाग् विशेषः' वाली किंवदंती भी यही सिद्ध करती है कि काव्यकार कालिदास नाटककार से भिन्न हुए। 'कालिदास' उनकी उपाधि हुई परंतु वास्तविक नाम क्या था ?

'राजतरंगिणी' में एक 'विक्रमादित्य' का वर्णन है, जिसने प्रसन्न होकर काश्मीर देश का राज्य 'मातृगुप्त' नाम के कवि को दे दिया। डॉक्टर भाउदा जी का मत है कि यह मातृगुप्त ही कालिदास है। **मेरा अनुमान है कि मातृगुप्त कालिदास तो थे, परंतु द्वितीय और काव्यकर्त्ता कालिदास थे। प्रवरसेन मातृगुप्त और विक्रमादित्य—ये परस्पर समकालीन व्यक्ति छठी शताब्दी के माने जाते हैं।**

महाराष्ट्रीय भाषा का काव्य 'सेतुबंध' (दह मुह वह) प्रवरसेन के लिए कालिदास ने बनाया था। ऊपर हम कह आये हैं कि मातृगुप्त का वही समय है जो काश्मीर में प्रवरसेन का है। इसका नाम 'तुंजीन' भी था। संभवतः इसी की सभा में रहकर कालिदास ने अपनी जन्मभूमि काश्मीर में यह अपनी पहली कृति बनायी, क्योंकि उस समय प्राकृति का प्रचार काश्मीर में अधिक था और यह वही प्राकृत है, जो उस समय समस्त भारतवर्ष में राष्ट्रभाषा के रूप में व्यवहृत थी, इसलिए इसका नाम महाराष्ट्री था।

कुछ लोगों का विचार है कि यह काव्य कालिदास का नहीं है क्योंकि पहले विष्णु की स्तुति के रूप में मंगलाचरण किया गया है, परंतु यह तर्क निस्सार है। कारण, 'रघुवंश' में विष्णु की स्तुति कालिदास ने की है और 'सेतुबंध' में तो स्पष्ट रूप से लिखा है कि 'इ अ सिरि पवर सेण विरइए कालिदास कए।" जब यह काव्य प्रवरसेन के लिए बनाया गया तो यह आवश्यक है कि उनके आराध्य विष्णु की स्तुति की जाय। प्रवरसेन ने जयस्वामी नामक विष्णु की मूर्ति बनवायी थी। **वस्तुतः कालिदास के लिए शिव और विष्णु में भेद नहीं था। जैसाकि हम ऊपर कह आये हैं, शाकुंतल के प्राकृत से 'सेतुबंध' की प्राकृत अत्यंत अर्वाचीन है, इसलिए उसे**

काव्यकार कालिदास का मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। कालिदास के संस्कृत काव्यों तथा इस महाराष्ट्री काव्य में कल्पना-शैली और भाव का भी साम्य है। कुछ उदाहरण लीजिए—

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तंमत्सेतुनाफेनिलम्बुराशिम्—(रघुवंश)
दीसई सेउ महा वह दोहा इअ पुव्व पच्छिम दिसा भाअम— (सेतुबंध)
छाया पथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृत चारुतारम—(रघुवंश)
मलअसुवेलालग्गो पडिट्ठिओ णहणि हम्मिसागर सलिले—(सेतुबंध)
रत्नच्छाया व्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्तात—(मेघदूत)
णिअअच्छाआवइ अरसामलइअसाअरोअर जलद्धंतं—(सेतुबंध)

ऐसा जान पड़ता है कि किसी कारण से प्रवरसेन और मातृगुप्त (कालिदास) में अनबन हो गयी, और उसे राज्यसभा तथा काश्मीर को छोड़कर मालवा आना पड़ा। शास्त्री महोदय के उस मत का निराकरण किया जा चुका है कि यशोधर्म्मदेव विक्रमादित्य नहीं थे। फिर संभवतः इन्हें स्कंदगुप्त विक्रमादित्य का ही आश्रित मानना पड़ेगा। क्योंकि तुंजीन और तोरमाण के समय में काश्मीर आपस के विग्रह के कारण अरक्षित था। उज्जयिनी के विक्रमादित्य के लिए यह मिलता भी है कि उसने 'सकाश्मीरांसकौबेरी काष्ठाश्च करदीकृता'। यह स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की ही वदान्यता थी कि काश्मीर विजय करके उसे मातृगुप्त को दान कर दिया।

चीनी यात्री हुएन्सांग ने लिखा है कि कुमारगुप्त की सभा में दिङ्नाग के दादागुरु मनोरथ को हराने में कालिदास की प्रतिभा ने काम किया था। कुमारगुप्त का समय 455 ई० तक है। किशोर मातृगुप्त ने कुमारगुप्त के समय में ही विद्या का परिचय दिया। मनोरथ के शिष्य बसुबंधु और उनका शिष्य विङ्नाग था, जिसने कालिदास के काव्यों की कड़ी आलोचना की थी। संभवतः उसी का प्रतिकार 'दिङ्नागानां पथिपरिहरन् स्थूल हस्तावलेपान्' से किया गया है क्योंकि प्राचीन टीकाकार मल्लिनाथ भी इसको मानते हैं। दिङ्नाग का गुरु वसुबंधु अयोध्या के विक्रमादित्य का सुहृद था। बौद्ध विद्वान् परमार्थ ने उसकी जीवनी लिखी है। इधर वामन ने काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति के अधिकरण 3 अध्याय 2 में साभिप्रायत्व का उदाहरण देते हुए एक श्लोकार्ध उद्धृत किया है—

"सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चंद्रप्रकाशो युवा
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्टया कृतार्थश्रमः"

'आश्रयः कृतधियामित्यस्य वसुबंधु साचिव्योपक्षेप परत्वात्साभिप्रायत्वम्' यह अयोध्या के विक्रमादित्य चंद्रगुप्त[1] का तनय चंद्रप्रकाश युवा कुमारगुप्त हो सकता है। वसुबंधु के गुरु मनोरथ का अंत और उसका सभा में पराजित होना स्वयं बौद्धों ने कालिदास के द्वारा माना है। इसी द्वेष से दिङ्नाग कालिदास का प्रतिद्वंद्वी बना। अब यह मान लेने में कोई भ्रम नहीं होता कि मातृगुप्त किशोरावस्था में कुमारगुप्त की सभा में थे। वही कालिदास—स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के सहचर थे, कुमारगुप्त का नामांकित एक काव्य भी—कुमारसंभव बनाया। यह बात तो अब बहुत-से विद्वान् मानने लगे हैं कि कालिदास के काव्यों में गुप्तवंश का व्यंजना से वर्णन है। हूणों के उत्पात और उनसे रक्षा करने के वर्णन का पूर्ण आभास कुमारसंभव में है। स्कंदगुप्त के भितरी वाले शिलालेख में एक स्थान पर उल्लेख है—'क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा'—तो रघुवंश में भी मिलता है—

सललितकुसुमप्रबालशय्यां, ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम्।
नरपति रतिवाहयां बभूव क्वचिद् समेतपरिच्छद स्त्रियामाम्॥

स्कंदगुप्त के शिलालेखों में जो पद्य रचना है, वह ऐसी ही प्रांजल है जैसी रघुवंश की—'व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्र पुत्रान् लक्ष्मीः स्वयं यं वरयाचकार' इत्यादि मे रघुवंश की-सी ही शैली दीख पड़ती है। 'स्कंदेन साक्षादिव देव-सेनाम्' इत्यादि में स्कंदगुप्त का स्पष्ट उल्लेख भी है और कुमारगुप्त के तो

1. विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके (कथा सरितासागर)
यह द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के लिए आया है। बौद्धों ने अयोध्या में इसकी राजधानी लिखा है। संभवतः मगध की साम्राज्य सीमा बढ़ने पर अयोध्या में सम्राट् कुछ दिनों के लिए रहने लगे हों, परंतु उज्जयिनी में इनका शासन होना किसी भी लेखक ने नहीं लिखा है। इनके पुत्र कुमारगुप्त ने 'महोदय' को विशेष आदर दिया; क्योंकि साम्राज्य धीरे-धीरे उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ रहा था। वस्तुतः उस समय राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ गुप्त सम्राट् लोग कुसुमपुर की प्रधानता रखते हुए सुविधानुसार अपने रहने का स्थान बदलते रहे हैं, क्योंकि उन्हें सैनिक-केंद्रों का बराबर परिवर्तन करना पड़ता था।

बहुत उल्लेख हैं। रघुवंश के 5, 6, 7 सर्गों में तो अज के लिए कुमार शब्द का प्रयोग कम से कम 11 बार है।

विक्रमादित्य के जीवन के संबंध में यह प्रसिद्ध है कि उनका अंतिम जीवन पराजय और दुखों से संबंध रखता है। वस्तुतः चंद्रगुप्त के जीवन-काल में साम्राज्य की वृद्धि के अतिरिक्त उसका ह्रास नहीं हुआ। यह स्कंदगुप्त के समय में ही हुआ कि उसे अनेक षड्यंत्रों, विपत्तियों तथा कष्टों का सामना करना पड़ा। जिस समय पुरगुप्त के अंतर्विद्रोह से मगध और अयोध्या छोड़कर स्कंदगुप्त विक्रमादित्य ने उज्जयिनी को अपनी राजधानी बनायी, और साम्राज्य का नया संगठन हो रहा था उसी समय मातृगुप्त को काश्मीर का शासक नियुक्त किया गया। यह समय ईसवीय सन् 450 से 500 के बीच पड़ता है। 467 ईसवीय में स्कंदगुप्त विक्रमादित्य का अंत हुआ। उसी समय मातृगुप्त (कालिदास) ने काश्मीर का राज्य स्वयं छोड़ दिया और काशी चले आये। अब बहुत-से लोग इस बात की शंका करेंगे कि कहां उज्जयिनी, कहां मगध, कहां काश्मीर फिर काशी, और सब के बाद सिंहल जाना यह बड़ा दूरान्वय—संबंध है। परंतु उस काल में सिंहल और भारत में बड़ा संबंध था। महाराज समुद्रगुप्त के समय में सिंहल के राजा मेघवर्ण ने उपहार भेजकर बोध-गया में विहार बनाने की प्रार्थना की थी; महावंश और समुद्रगुप्त के लेख में इसका संकेत है और महाबोधि-विहार सिंहल के राजकुल की कीर्ति है। तब से सिंहल के राजकुमार और राजकुल के भिक्षु इस विहार में बराबर आते रहते थे। बोध-गया से लाया गया पटना म्यूजियम में एक शिलालेख है—(नंबर 113), यह प्रमाण प्रख्यातकीर्त्ति का है—'लङ्काद्वीप नरेंद्राणां श्रवणः कुलजोभवत्। प्रख्यात-कीर्त्ति धर्मात्मा स्वकुलांबर चन्द्रमा।' महानामन् के शिलालेख से इसकी पुष्टि होती है—

'संयुक्तागमिनो विशुद्धरजसः सत्वानुकम्पोद्यता
शिष्यायस्य सकृद्विचेरुरतुलांलंकाचलोपत्यकां
तेभ्यः शीलगुणान्वितश्च शतशः शिष्याः प्रशिष्याः क्रमात्
जातास्तुंग नरेन्द्रवंश तिलकाः प्रोत्सृज्य राज्यश्रियम्'

जब राजकुल के श्रमण और राजपुत्र लोग यहां तीर्थ यात्रा के लिए

बराबर आते थे, और संस्कृत कविता का प्रचार भी रहा तब उस काल के सर्वोच्च कवि की मैत्री की इच्छा होनी स्वाभाविक है। और उस नष्टाश्रय महाकवि के साथ मैत्री करने में अपने को धन्य समझने वाले कुमारदास की कथा में अविश्वास का कारण नहीं है। यदि स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के मरने पर दुखी होकर राजमित्र के पास सिंहल जाना इनका ठीक है, तो यह कहना होगा कि 'मेघदूत' उसी समय का काव्य है और देवगिरि की स्कंद-राज प्रतिमा उनकी आंखों से देखी हुई थी, जिनका वर्णन उन्होंने 'देवपूर्व-गिरिं ते' वाले श्लोक में किया है।

यदि 524 ईसवीय तक कालिदास का जीवित रहना ठीक है तो उन्होंने गुप्तवंश का ह्रास भी भली भांति देखा अथवा सुना होगा। रघुवंश में वैसा ही अंतिम पतनपूर्ण वर्णन भी है।

कुमारदास का सिंहल का राजा उसी काल में होना और सिंहल में कालिदास के जाने की रूढ़ि उस देश में माना जाना, उधर चीनी यात्री द्वारा वर्णित कालिदास का मनोरथ को हराना, दिङ्नाग और कालिदास का द्वंद्व, विक्रमादित्य और मातृगुप्त की कथा का 'राजतरंगिणी' में उसी काल का उल्लेख, हूण-राजकुल में सुंगयुन के अनुसार विग्रह; काश्मीर युद्ध की देखी हुई घटना—ये सब बातें आकर एक सूत्र में ऐसी मिल जाती हैं कि दूसरे काव्यकार कालिदास को—विक्रम-सखा, दीप शिखा कालिदास को—मातृगुप्त मानने में कुछ भी संकोच नहीं होता—जैसा डॉक्टर भाऊदा जी का मत है।

विक्रमांक के समान भोज के पिता सिंधुराज की पदवी साहसांक थी। पद्मगुप्त परिमल ने नवसाहसांक-चरित बनाया था। तंजौर वाली 'साह-सांक-चरित' की प्रति में इनको भी कालिदास लिखा। बहुत संभव है कि यह तीसरे कालिदास बंगाल के हों, जैसाकि बंगाली लोग मानते हैं। ऋतुसंहार, पुष्पवाणविलास, शृंङ्गार-तिलक और अश्वघाटी काव्यों के रचयिता संभवतः यही तीसरे कालिदास हो सकते हैं।

—जयशंकर प्रसाद

गुप्त राजवंश

श्री गुप्त—(ई० 275-300)
(कोई इसका नाम केवल 'गुप्त' लिखते हैं, 'श्री' सम्मान सूचक है)

घटोत्कच गुप्त—(ई० 300-320)
(इस नाम के साथ 'गुप्त' शब्द नहीं मिलता)

चंद्रगुप्त—(ई० 320-335)
(यही पहला स्वतंत्र गुप्तवंशी राजा हुआ। वैशाली के लिच्छवियों के यहां इसका ब्याह हुआ)

समुद्रगुप्त—(ई० 335-385)
(गुप्तवंश का परम प्रतापी, भारत-विजेता सम्राट्, राजसूय और अश्वमेध यज्ञ किया)

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य (ई० 385-413)
(पाटलिपुत्र का विक्रमादित्य, जिसे लोग चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य कहते हैं)

कुमारगुप्त महेंद्रादित्य (ई० 413-455)
(मालव-विजेता, आख्यायिकाओं के विक्रमादित्य का पिता महेंद्रादित्य)

स्कंदगुप्त विक्रमादित्य (ई० 555 (उज्जयिनी का द्वितीय 469) विक्रमादित्य। महान वीर। इसके 'श्री विक्रमा:' भी मिलता है।

पुरगुप्त प्रकाशादित्य (ई० 467-467) (इसके सोने के सिक्कों पर

चांदी के सिक्कों पर परम भागवत् परंतु प्रकाशादित्य नामवाले सिक्के श्री विक्रमादित्य स्कंदगुप्त अंकित है) भी इसी के हैं, जिन्हें उज्जयिनी में स्कंदगुप्त के शासन-काल में मगध में इसने स्वतंत्र रूप से ढलवाये, फिर स्कंदगुप्त के मरने पर उसकी उपाधि 'श्री विक्रम' भी ग्रहण कर ली होगी)

|

नरसिंहगुप्त बालादित्य(ई०469-473)
(यह प्रथम बालादित्य है, जिसे राज-तरंगिणीकार ने भ्रम से विक्रमादित्य का भाई लिखा है। और, वह यशोधर्म्म का भी समकालीन नहीं था)

|

कुमारगुप्त विक्रमादित्य (द्वितीय) ?
(ई० 473-477)
(कई विद्वान कुमारगुप्त को स्कंदगुप्त का उत्तराधिकारी मानते हैं। परंतु यह ठीक नहीं। भितरी के 'सील' से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुमारगुप्त द्वितीय पुरगुप्त का पुत्र था। सारनाथ वाले शिलालेख का कुमारगुप्त और भितरी के 'सील' का कुमार, दोनों एक ही व्यक्ति हैं, जिसका उत्तराधिकारी बुधगुप्त था—जिसके राज्य में मालव पर हूणों का अधिकार हुआ। मंदसोर के शिलालेख में जिस कुमारगुप्त का उल्लेख है, उस काल (493 वि०) में बंधुवर्म्मा का राज्य मालव पर था, उक्त 436 ई० में कुमारगुप्त प्रथम का

राज्य था। और उसी शिलालेख में जो 529 वि० का उल्लेख है, वह उस मंदिर के जीर्णोद्धार का है—'संस्कारित-मिदंभूयः श्रेण्या भानुमतो गृहं—से यह स्पष्ट है)

|

बुधगुप्त परादित्य ? (ई० 477-494)

(इसके समय में मगध-साम्राज्य के बड़े-बड़े प्रदेश अलग हुए। इसका राज्य केवल मगध अंग और काशी तक ही रह गया था)

|

तथागतगुप्त परमादित्य ?
(ई० 494-510)

(जोन एलन के मतानुसार यहां घटोत्कच का नाम होना चाहिए। परंतु हुएन्सांग ने लिखा है कि यशोधर्म्म के साथ मिहरकुल को हराने वाले बालादित्य के पिता का नाम तथागतगुप्त था। इससे हम भानुगुप्त के पिता का नाम तथागतगुप्त ही मानने को बाध्य होते हैं)

|

भानुगुप्त बालादित्य (ई० 510-534)

जब हूणों से मालव का उद्धार यशोधर्म्म देव ने किया उस समय मगध को इसी बालादित्य ने बचाया। इसी की ओर से अरिकिण में गोपराज ने युद्ध किया। सारनाथ में इसी का लेख

मिला है—तद्वंश संभवोन्यो बालादित्यो नृपः प्रीत्य प्रकटादित्ये (No 79 Plate XYIIIC)

|

वज्रगुप्त प्रकटादित्य ? (ई० 534-440)
(प्रकटादित्य वज्रगुप्त की उपाधि है)
इसी वज्रगुप्त के समय में मालव के शीलादित्य ने मगध छीन लिया तब से गुप्त वंश का प्राधान्य लुप्त हुआ।

मालव राजवंश

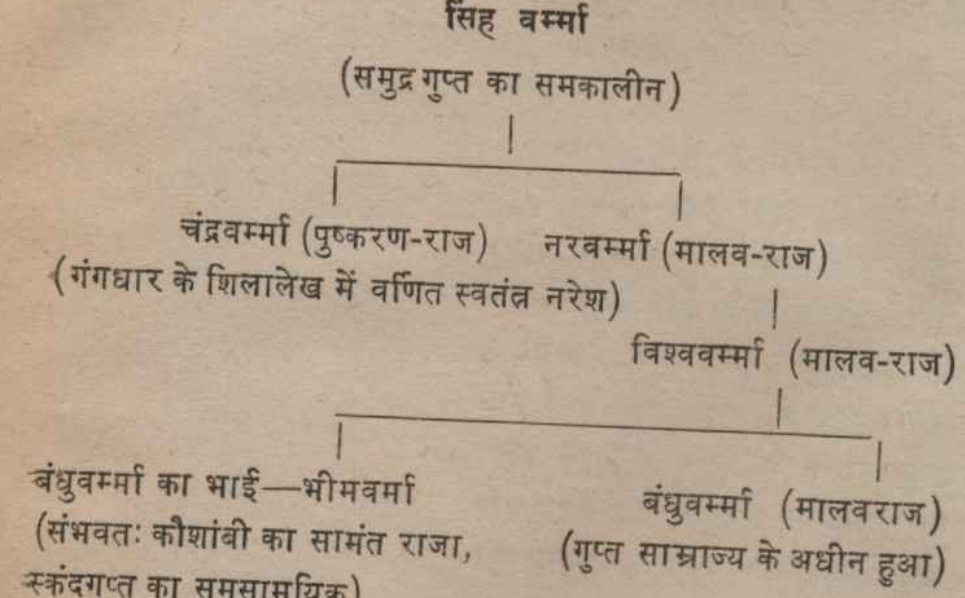
सिंह वर्म्मा
(समुद्र गुप्त का समकालीन)
चंद्रवर्म्मा (पुष्करण-राज)
(गंगधार के शिलालेख में वर्णित स्वतंत्र नरेश)
नरवर्म्मा (मालव-राज)
विश्ववर्म्मा (मालव-राज)
बंधुवर्म्मा का भाई—भीमवर्मा
(संभवतः कौशांबी का सामंत राजा,
स्कंदगुप्त का समसामयिक)
बंधुवर्म्मा (मालवराज)
(गुप्त साम्राज्य के अधीन हुआ)

पात्र

स्कंदगुप्त	:	युवराज (विक्रमादित्य
कुमारगुप्त	:	मगध का सम्राट्
गोविंदगुप्त	:	कुमारगुप्त का भाई
पुरगुप्त	:	कुमारगुप्त का छोटा पुत्र
पर्णदत्त	:	मगध का महानायक
चक्रपालित	:	पर्णदत्त का पुत्र
बंधुवर्म्मा	:	मालव का राजा
भीमवर्म्मा	:	बंधुवर्म्मा का भाई
मातृगुप्त	:	काव्यकर्त्ता कालिदास
प्रपंचबुद्धि	:	बौद्ध कापालिक
शर्वनाग	:	अंतर्वेद का विषयपति
धातुसेन (कुमारदास)	:	कुमारदास के प्रच्छन्न रूप में सिंहल का राजकुमार
भटार्क	:	नवीन महाबलाधिकृत
पृथ्वीसेन	:	मंत्री कुमारामात्य
खिंगिल	:	हूण आक्रमणकारी
मुद्गल	:	विदूषक
प्रख्यातकीर्त्ति	:	लंकाराज-कुल का श्रमण, महाबोधि-विहार का स्थविर (महाप्रतिहार, महादंडनायक, नंदीग्राम का दंडनायक, प्रहरी, सैनिक इत्यादि)

देवकी	:	कुमारगुप्त की बड़ी रानी—स्कंदगुप्त की माता
अनंतदेवी	:	कुमारगुप्त की छोटी रानी—पुरगुप्त की माता
जयमाला	:	बंधुवर्म्मा की स्त्री—मालव की रानी
देवसेना	:	बंधुवर्म्मा की बहिन
विजया	:	मालव के धनकुवेर की कन्या
कमला	:	भटार्क की जननी
रामा	:	शर्वनाग की स्त्री
मालिनी	:	मातृगुप्त की प्रणयिनि (सखी, दासी, इत्यादि)

प्रथम अंक

दृश्य : एक

[उज्जयिनी में गुप्त-साम्राज्य का स्कंधावार]

स्कंदगुप्त : (टहलते हुए) अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है ! अपने को नियामक और कर्त्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है ! उत्सवों में परिचारक और अस्त्रों में ढाल से भी—अधिकार लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं ? (ठहरकर) उंह ! जो कुछ हो, हम साम्राज्य के एक सैनिक हैं।

पणदत्त : (प्रवेश करके) युवराज की जय हो !

स्कंदगुप्त : आर्य पर्णदत्त का अभिवादन करता हूं। सेनापति की क्या आज्ञा है ?

पर्णदत्त : मेरी आज्ञा ! युवराज ! आप सम्राट के प्रतिनिधि हैं, मैं तो आज्ञाकारी सेवक हूं ! इस वृद्ध ने गरुड़ध्वज लेकर आर्य्य चंद्रगुप्त की सेना का संचालन किया है। अब भी गुप्त-साम्राज्य की नासीर सेना में—उसी गरुड़ध्वज् की छाया में पवित्र क्षात्र धर्म का पालन करते हुए उसी के मान के लिए मर मिटूं यही कामना है—गुप्तकुल-भूषण ! आशीर्वाद दीजिए, वृद्ध पर्णदत्त की माता का स्तन्य लज्जित न हो।

स्कंदगुप्त : आर्य्य ! आपके वीरता की लेखमाला शिप्रा और

सिंधु की लोल-लहरियों से लिखी जाती है, शत्रु भी उस वीरता की सराहना करते हुए सुने जाते हैं। तब भी संदेह !

पर्णदत्त : संदेह दो बातों से युवराज !

स्कंदगुप्त : वे कौन-सी हैं ?

पर्णदत्त : अपने अधिकारों के प्रति आपकी उदासीनता और अयोध्या में नित्य नये परिवर्तन।

स्कंदगुप्त : क्या अयोध्या का कोई नया समाचार है ?

पर्णदत्त : संभवतः सम्राट् तो कुसुमपुर चले गये हैं, और कुमारामात्य महाबलाधिकृत वीरसेन ने स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया।

स्कंदगुप्त : क्या ! महाबलाधिकृत अब नहीं हैं ? शोक !

पर्णदत्त : अनेक समरों के विजेता, महामानी, गुप्त साम्राज्य के महाबलाधिकृत अब इस लोक में नहीं हैं ! इधर प्रौढ़ सम्राट् के विलास की मात्रा बढ़ गयी है।

स्कंदगुप्त : चिंता क्या आर्य्य ! अभी तो आप हैं तब भी मैं ही सब विचारों का भार वहन करूं; अधिकार का उपयोग करूं ! वह भी किसलिए ?

पर्णदत्त : किसलिए ? त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिए, सतीत्व के सम्मान के लिए, देवता-ब्राह्मण और गौ की मर्यादा में विश्वास के लिए, आतंक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिए— आपको अपने अधिकार का उपयोग करना होगा। युवराज ! इसी-लिए मैंने कहा था कि आप अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हैं, जिसकी मुझे बड़ी चिंता है। गुप्त-साम्राज्य के भावी शासक को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं !

स्कंदगुप्त : सेनापते ! प्रकृतिस्थ होइए। परम भट्टारक महाराजाधिराज-अश्वमेध-पराक्रम श्रीकुमारगुप्त महेंद्रादित्य के सुशासित राज्य की सुपालित प्रजा को डरने का कारण नहीं है। गुप्त-सेना की मर्यादा की रक्षा के लिए पर्णदत्त सदृश महा-वीर अभी प्रस्तुत हैं।

पर्णदत्त : राष्ट्रनीति, दार्शनिकता और कल्पना का लोक नहीं है। इस

कठोर प्रत्यक्षवाद की समस्या बड़ी कठिन होती है। गुप्त-साम्राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ उसका दायित्व भी बढ़ गया है, पर उस बोझ को उठाने के लिए गुप्तकुल के शासक प्रस्तुत नहीं, क्योंकि साम्राज्य लक्ष्मी को वे अब अनायास और अवश्य अपनी शरण आने वाली वस्तु समझने लगे हैं।

स्कंदगुप्त : आर्य्य ! इतना व्यंग न कीजिए, इसके कुछ प्रमाण भी हैं ?

पणदत्त : प्रमाण ! प्रमाण अभी खोजना है ? आंधी आने के पहले आकाश जिस तरह स्तंभित हो रहता है, बिजली गिरने से पूर्व जिस प्रकार नील कादंबिनी का मनोहर आवरण महा-शून्य पर चढ़ जाता है, क्या वैसी ही दशा गुप्त-साम्राज्य की नहीं है ?

स्कंदगुप्त : क्या पुष्यमित्रों के युद्ध को देखकर वृद्ध सेनापति चकित हो रहे हैं ? (**हंसता है**)

पर्णदत्त : युवराज ! व्यंग न कीजिए। केवल पुष्यमित्रों के युद्ध से ही इतिश्री न समझिए, म्लेच्छों के भयानक आक्रमण के लिए भी प्रस्तुत रहना चाहिए। चरों ने आज ही कहा है कि कपिशा को श्वेत हूणों ने पादाक्रांत कर लिया, तिस पर भी युवराज पूछते हैं कि 'अधिकारों का उपयोग किस-लिए ?' यही 'किसलिए' प्रत्यक्ष प्रमाण है कि गुप्तकुल के शासक इस साम्राज्य को 'गले पड़ी' वस्तु समझने लगे हैं।

[**चक्रपालित का प्रवेश**]

चक्रपालित : (**देखकर**) अरे, युवराज भी यहीं हैं ! युवराज की जय हो !

स्कंदगुप्त : आओ चक्र ! आर्य्य पर्णदत्त ने मुझे घबरा दिया है।

चक्रपालित : पिता जी ! प्रणाम—कैसी बात है ?

पणदत्त : कल्याण हो, आयुष्मन् ! तुम्हारे युवराज अपने अधिकारों से उदासीन हैं। वे पूछते हैं 'अधिकार किसलिए ?'

चक्रपालित : तात ! इस 'किसलिए' का अर्थ मैं समझता हूं।

पर्णदत्त : क्या ?

चक्रपालित : गुप्तकुल का अव्यवस्थित उत्तराधिकार-नियम !

स्कंदगुप्त : चक्र, सावधान ! तुम्हारे इस अनुमान का कुछ आधार भी है ?

चक्रपालित : युवराज ! यह अनुमान नहीं है, यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है।

पर्णदत्त : (गंभीरता से) चक्र ! यदि यह बात हो भी, तब भी तुमको ध्यान रखना चाहिए कि हम लोग साम्राज्य के सेवक हैं। असावधान बालक ! अपनी चंचलता को विषवृक्ष का बीज न बना देना।

स्कंदगुप्त : आर्य्य पर्णदत्त, क्षमा कीजिए। हृदय की बातों को राजनीतिक भाषा में व्यक्त करना—चक्र नहीं जानता।

पर्णदत्त : ठीक है, किंतु उसे इतनी शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। (देखकर) चर आ रहा है, युद्ध का कोई नया समाचार है क्या ?

चर : (प्रवेश करते) युवराज की जय हो !

पर्णदत्त : क्या समाचार है ?

चर : अबकी बार पुष्यमित्रों का अंतिम प्रयत्न है। वे अपनी समस्त शक्ति संकलित करके बढ़ रहे हैं। नासीर-सेना के नायक ने सहायता मांगी है। दशपुर से भी दूत आया है।

स्कंदगुप्त : अच्छा जाओ, उसे भेज दो। (जाता है। दशपुर के दूत का प्रवेश)

दूत : युवराज भट्टारक की जय हो !

स्कंदगुप्त : मालवपति सकुशल हैं ?

दूत : कुशल आपके हाथ है ! महाराज विश्ववर्मा का शरीरांत हो गया है। नवीन नरेश महाराज बंधुवर्म्मा ने साभिवादन श्रीचरणों में संदेश भेजा है।

स्कंदगुप्त : खेद ! ऐसे समय में, जबकि हम लोगों को मालवपति से सहायता की आशा थी, वे स्वयं कौटुंबिक आपत्तियों में फंस गये हैं।

दूत : इतना ही नहीं, शक-राष्ट्रमंडल चंचल हो रहा है, नवागत म्लेच्छवाहिनी से सौराष्ट्र भी पादाक्रांत हो चला है, इस कारण पश्चिमी मालव भी अब सुरक्षित न रहा। (**स्कंदगुप्त पर्णदत्त की ओर देखते हैं**)

पर्णदत्त : वलभी का क्या समाचार है ?

दूत : वलभी का पतन अभी रुका है। किंतु बर्बर हूणों से उसका बचना कठिन है। मालव की रक्षा के लिए महाराज बंधु-वर्म्मा ने सहायता मांगी है। दशपुर की समस्त सेना सीमा पर जा चुकी है।

स्कंदगुप्त : मालव और शक युद्ध में जो संधि गुप्त-साम्राज्य और मालवराष्ट्र में हुई है, उसके अनुसार मालव की रक्षा गुप्त-सेना का कर्त्तव्य है। महाराज विश्ववर्म्मा के समय से ही सम्राट कुमारगुप्त उनके संरक्षक हैं। परंतु दूत ! बड़ी कठिन समस्या है।

दूत : विषम अवस्था होने पर भी युवराज ! साम्राज्य ने संरक्षकता का भार लिया है।

पर्णदत्त : दूत ! क्या तुम्हें विदित नहीं है कि पुष्यमित्रों से हमारा युद्ध चल रहा है !

दूत : तब भी मालव ने कुछ समझकर—किसी आशा पर ही अपनी स्वतंत्रता को सीमित कर लिया था।

स्कंदगुप्त : दूत ! केवल संधि-नियम से ही हम लोग बाध्य नहीं हैं—शरणागत की रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है। तुम विश्राम करो। सेनापति पर्णदत्त समस्त सेना लेकर पुष्यमित्रों की गति रोकेंगे। अकेला स्कंदगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध है। जाओ निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कंद-गुप्त के जीते-जी मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा।

दूत : धन्य युवराज ! आर्य्य-साम्राज्य के भावी शासक के उपयुक्त ही यह बात है ! (**प्रणाम करके जाता है**)

पर्णदत्त : युवराज ! आज यह वृद्ध, हृदय से प्रसन्न हुआ और गुप्त

साम्राज्य की लक्ष्मी भी प्रसन्न होंगी।

चक्रपालित : तात ! पुष्यमित्र-युद्ध का अंत तो समीप है। विजय निश्चित है। किसी दूसरे सैनिक को भेजिए। मुझे युवराज के साथ जाने की अनुमति हो।

स्कंदगुप्त : नहीं चक्र, तुम विजयी होकर मुझसे मालव में मिलो। ध्यान रखना—राजधानी से अभी सहायता नहीं मिलती। हम लोगों को इस आसन्न विषद् में अपना ही भरोसा है !

पर्णदत्त : कुछ चिंता नहीं युवराज ! भगवान् सब मंगल करेंगे। चलिए, विश्राम करें।

दृश्य : दो

[कुसुमपुर के राज-मंदिर में सम्राट् कुमारगुप्त और उनके पार्षद्]

धातुसेन : परम भट्टारक ! आपने भी स्वयं इतने विकट युद्ध किये हैं। मैंने समझा था, राज-सिंहासन पर बैठे-बैठे राजदंड हिला देने से ही इतना बड़ा गुप्त साम्राज्य स्थापित हो गया था, परंतु···

कुमारगुप्त : (हंसते हुए) तुम्हारी लंका में अब राक्षस नहीं बसते—क्यों धातुसेन ?

धातुसेन : यदि राक्षस कोई था तो विभीषण था, और बंदरों में भी एक सुग्रीव हो गया। दक्षिणापथ आज भी उनकी करनी का फल भोग रहा है। परंतु हां, एक आश्चर्य की बात है कि महामान्य परमेश्वर परम भट्टारक को भी युद्ध करना पड़ा। सुना था रामचंद्र ने तो—जब वे युवराज भी न थे तभी युद्ध किया था। सम्राट होने पर भी युद्ध !

कुमारगुप्त : युद्ध तो करना ही पड़ता है। अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है।

धातुसेन : अच्छा, तो स्वर्गीय आर्य्य समुद्रगुप्त ने देवपुत्रों तक का

राज्य-विजय किया था सो उनके लिए परम आवश्यक था ? क्या पाटलिपुत्र के समीप ही वह राष्ट्र था।

कुमारगुप्त : तुम भी बालि की सेना में से कोई बचे हुए हो !

धातुसेन : परम भट्टारक की जय हो ! बालि की सेना न थी, और वह युद्ध न था। जब उसमें लड्डू खाने वाले सुग्रीव निकल पड़े, तब फिर···

कुमारगुप्त : क्यों···

धातुसेन : उनकी बड़ी सुंदर ग्रीवा में लड्डू अत्यंत सुशोभित होता था और सबसे बड़ी बात तो थी बालि के लिए—उनकी तारा का मंत्रित्व। सुना है सम्राट ! स्त्री की मंत्रणा बड़ी अनुकूल और उपयोगी होती है, इसीलिए उन्हें राज्य की झंझटों से शीघ्र छुट्टी मिल गयी। परम भट्टारक की दुहाई ! एक स्त्री को मंत्री—आप भी बना लें, बड़े-बड़े दाढ़ी-मूंछ वाले मंत्रियों के बदले उसकी एकांत मंत्रणा कल्याणकारिणी होगी ?

कुमारगुप्त : (हंसते हुए) लेकिन पृथ्वीसेन तो मानते ही नहीं।

धातुसेन : तब मेरी सम्मति से वे ही कुछ दिनों के लिए स्त्री हो जायं, क्यों कुमारामात्य जी ?

पृथ्वीसेन : पर तुम तो स्त्री नहीं हो जो मैं तुम्हारी सम्मति मान लूं ?

कुमारगुप्त : (हंसता हुआ) हां, तो आर्य्य समुद्रगुप्त को विवश होकर उन विद्रोही विदेशियों का दमन करना पड़ा; क्योंकि मौर्य्य साम्राज्य के समय से ही सिंधु के उस पार का देश भी भारत-साम्राज्य के अंतर्गत था। जगद्विजेता सिकंदर के सेनापति सिल्यूकस से उस प्रांत को मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त ने लिया था।

धातुसेन : फिर तो लड़कर ले लेने की एक परंपरा-सी लग जाती है। उनसे उन्होंने, उन्होंने उनसे, ऐसे ही लेते चले आये हैं। उसी प्रकार आर्य्य···

कुमारगुप्त : उंह ! तुम समझते नहीं। मनु ने इसकी व्यवस्था दी है।

धातुसेन : नहीं धर्मावतार! समझ में तो इतनी बात आ गयी कि लड़कर ले लेना ही एक प्रधान स्वत्व है। संसार में इसी का बोलबाला है।

भटार्क : नहीं तो क्या रोने से, भीख मांगने से कुछ अधिकार मिलता है? जिसके हाथ में बल नहीं, उसका अधिकार ही कैसा? और यदि मांगकर मिल भी जाय, तो शांति की रक्षा कौन करेगा?

मुद्गल : (प्रवेश करके) रक्षा पेट कर लेगा, कोई दे भी तो। अक्षय तूणीर, अक्षय कवच सब लोगों ने सुना होगा; परंतु इस अक्षय मंजूषा का हाल मेरे सिवा कोई नहीं जानता! इसके भीतर कुछ रखकर देखो, मैं कैसी शांति से बैठा रहता हूं (पद्मासन से बैठ जाता है)

पृथ्वीसेन : परम भट्टारक की जय हो! मुझे कुछ निवेदन करना है—यदि आज्ञा हो तो···

कुमारगुप्त : हां-हां, कहिए!

पृथ्वीसेन : शिप्रा के इस पार साम्राज्य का स्कंधावार स्थापित है। मालवेश का दूत भी बता गया है कि 'हम ससैन्य युवराज के सहायतार्थ प्रस्तुत हैं!' महानायक पर्णदत्त ने भी अनुकूल समाचार भेजा है।

कुमारगुप्त : मालव का इस अभियान से कैसा भाव है, कुछ पता चला? क्योंकि यह युद्ध तो जान-बूझकर छेड़ा गया है।

पृथ्वीसेन : अपने मुख से मलवेश ने दूत से यहां तक कहा था कि युवराज को कष्ट देने की क्या आवश्यकता थी, आज्ञा पाने से मैं स्वयं ही इसे ठीक कर लेता हूं।

कुमारगुप्त : साधु! महासंधिविग्रहिक—यह वंश-परंपरागत तुम्हारी ही विद्या है।

पृथ्वीसेन : सम्राट् के श्रीचरणों का प्रताप है। सौराष्ट्र से भी नवीन समाचार मिलने वाला है। इसीलिए युवराज को वहां भेजने का मेरा अनुरोध था।

भटार्क : सौराष्ट्र की गतिविधि देखने के लिए एक रणदक्ष सेनापति की आवश्यकता है। वहां शक राष्ट्र बड़ा चंचल अथच भयानक है।

पृथ्वीसेन : (गूढ़ दृष्टि से देखते हुए) महाबलाधिकृत ! आवश्यकता होने पर आपको वहां जाना ही होगा, उत्कंठा की आवश्यकता नहीं।

भटार्क : नहीं। मैं तो···

कुमारगुप्त : महाबलाधिकृत ! तुम्हारी स्मरणीय सेवा स्वीकृत होगी। अभी आवश्यकता नहीं।

धातुसेन : (हाथ जोड़कर) यदि दक्षिणापथ पर आक्रमण का आयोजन हो तो मुझे आज्ञा मिले। मेरा घर पास है—स्वच्छंदतापूर्वक लेट रहूंगा, सेना को भी कष्ट न होने पावेगा। (**सब हंसते हैं**)

मुद्गल : जय हो देव ! पाकशाला पर चढ़ाई करनी हो तो मुझे आज्ञा मिले। मैं अभी उसका सर्वस्वांत कर डालूं।

[फिर सब हंसते हैं। गंभीर भाव से अभिवादन करते हुए एक ओर पृथ्वीसेन और दूसरी ओर भटार्क का प्रस्थान]

कुमारगुप्त : मुद्गल ! तुम्हारा कुछ···

मुद्गल : महादेवी ने प्रार्थना की है कि युवराज भट्टारक की कल्याणकामना के लिए चक्रपाणि भगवान के पूजा की सामग्री प्रस्तुत है—आर्य्य पुत्र कब चलेंगे ?

कुमारगुप्त : (मुंह बनाकर) आज तो कुछ पारसीक नर्त्तकियां आने वाली हैं, अपानक भी ! महादेवी से कह देना, असंतुष्ट न हों, कल चलूंगा। समझा न मुद्गल ?

मुद्गल : (खड़ा होकर) परमेश्वर परमभट्टारक की जय हो ! (**जाता है**)

धातुसेन : वह चाणक्य कुछ भांग पीता था। उसने लिखा है कि राजपुत्र भेड़िये हैं, इनसे पिता को सदैव सावधान रहना

चाहिए।

कुमारगुप्त : यह राष्ट्रनीति है। (**अनंतदेवी का चुपचाप प्रवेश**)

धातुसेन : भूल गया, उसके बदले उस ब्राह्मण को लिखना था कि राजा लोग ब्याह ही न करें, क्यों भेड़ियों जैसी संतान उत्पन्न हों ?

अनंतदेवी : (**सामने आकर**) आर्य्य पुत्र की जय हो !

[**धातुसेन भयभीत होने जैसा मुंह बनाकर चुप हो जाता है**]

कुमारगुप्त : आओ प्रिये ! खोज ही रहा था।

अनंतदेवी : नर्त्तकियों को बुलवाती आ रही हूं। कुमारामात्य आदि थे, मंत्रणा में बाधा समझकर, जान-बूझकर देर लगायी। आपको तो देखती हूं कि अवकाश ही नहीं। (**धातुसेन की ओर क्रुद्ध होकर देखती है**)

कुमारगुप्त : वह अबोध विदेशी हंसोड़ है।

अनंतदेवी : तब भी सीमा होनी चाहिए।

धातुसेन : चाणक्य का नाम ही कौटिल्य है। उनके सूत्रों की व्याख्या करने जाकर ही यह फल मिला। क्षमा मिले तो एक बात और पूछ लूं क्योंकि फिर इस विषय का प्रश्न न करूंगा।

अनंतदेवी : पूछ लो।

धातुसेन : उमके अनर्थशास्त्र में विषकन्या का···

कुमारगुप्त : (**डांटकर**) चुप रहो। (**नर्त्तकियों का गाते हुए प्रवेश**)

न छेड़ना उस अतीत स्मृति से खिचे हुए बीन-तार कोकिल।
करुण रागिनी तड़प उठेगी सुना न ऐसी पुकार कोकिल।
हृदय धूल में मिला दिया है
उसे चरण-चिह्न-सा किया है
खिले फूल सब गिरा दिया है न अब बसंती बहार कोकिल।
सुनी बहुत आनंद-भैरवी
विगत हो चुकी निशा-माधवी
रही न अब शारदी कैरवी न तो मघा की फुहार कोकिल।

न खोज पागल मधुर प्रेम को
न तोड़ना और के नेम को
बचा विरह.मौन के क्षेम को कुचाल अपनी सुधार कोकिल।

दृश्य : तीन

[पथ में मातृगुप्त]

मातृगुप्त : कविता करना अनंत पुण्य का फल है। इस दुराशा और अनंत उत्कंठा से कवि-जीवन व्यतीत करने की इच्छा हुई। संसार के समस्त अभावों को असंतोष कहकर हृदय को धोखा देता रहा। परंतु कैसी विडंबना! लक्ष्मी के लालों का भ्रू-भंग और क्षोभ की ज्वाला के अतिरिक्त मिला क्या! —एक काल्पनिक प्रशंसनीय जीवन, जो दूसरों की दया में अपना अस्तित्व रखता है! संचित हृदय कोश के अमूल्य रत्नों की उदारता और दारिद्र्य का व्यंग्यात्मक कठोर अट्टहास, दोनों की विषमता की कौन-सी व्यवस्था होगी। मनोरथ को—भारत के प्रकांड बौद्ध पंडित को—परास्त करने में मैं सबकी प्रशंसा का भाजना बना। परंतु हुआ क्या?

मुद्गल : (प्रवेश करते) कहिए कवि जी! आप तो बहुत दिनों पर दिखायी पड़े! कुलपति की कृपा से कहीं अध्यापन-कार्य मिल गया क्या?

मातृगुप्त : अभी तो यों ही बैठा हूं।

मुद्गल : क्या बैठे-बैठे काम चल जाता है—तब तो भाई, तुम बड़े भाग्यवान हो। कविता करते हो न? भाई! उसे छोड़ दो।

मातृगप्त : क्यों? वही तो मेरे भूखे हृदय का आहार है! कवित्व-वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है। अंधकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का

चेतन से और बाह्य जगत् का अंतर्जगत् से संबंध कौन कराती है ? कविता ही न !

मुद्गल : परंतु हाथ का मुख से, पेट का अन्न से और आंखों का निद्रा से भी संबंध होता है कि नहीं ? कभी इसको भी सोचा-विचारा है ?

मातृगुप्त : संसार में क्या इतनी ही वस्तुएं विचारने की हैं ? पशु भी इनकी चिंता कर लेते होंगे।

मुद्गल : और मनुष्य पशु नहीं है, क्योंकि उसे बातें बनाना आता है —अपनी मूर्खताओं को छिपाना, पापों पर बुद्धिमानी का आवरण चढ़ाना आता है ! और वाग्जाल की फांस उसके पास है। अपनी घोर आवश्यकताओं में कृत्रिमता बढ़ाकर, सभ्य और पशु से कुछ ऊंचा द्विपद—मनुष्य, पशु बनने से बच जाता है।

मातृगुप्त : होगा, तुम्हारा तात्पर्य क्या है ?

मुद्गल : स्वप्नमय जीवन को छोड़कर विचारपूर्ण वास्तविक स्थिति में आओ। ब्राह्मण-कुमार हो, इसीलिए दया आती है।

मातृगुप्त : क्या करूं ?

मुद्गल : मैं दो-चार दिन में अवंती जाने वाला हूं, युवराज भट्टारक के पास तुम्हें रखवा दूंगा। अच्छी वृत्ति मिलने लग जायेगी —है स्वीकार ?

मातृगुप्त : परंतु मेरे ऊपर इतनी दया क्यों ?

मुद्गल : तुम्हारी बुद्धिमत्ता देखकर मैं प्रसन्न हुआ हूं। उसी दिन से मैं खोजता था। तुम जानते हो कि राजकृपा का अधिकारी होने के लिए समय की आवश्यकता है। बड़े लोगों की एक दृढ़ धारणा होती है कि 'अभी टकराने दो—ऐसे बहुत आया जाया करते हैं।'

मातृगुप्त : तब तो बड़ी कृपा है। मैं अवश्य चलूंगा। काश्मीरमंडल में हूणों का आतंक है, शास्त्र और संस्कृत-विद्या को पूछने वाला कोई नहीं। म्लेच्छाक्रांत देश छोड़कर राजधानी में

चला आया था। अब आप ही मेरे पथ-प्रदर्शक हैं।

मुद्गल : अच्छा, तो मैं जाता हूं, शीघ्र ही मिलूंगा। तुम चलने के लिए प्रस्तुत रहना। (प्रस्थान)

मातृगुप्त : काश्मीर! जन्मभूमि! जिसकी धूलि में लोटकर खड़े होना सीखा, जिससे खेल-खेलकर शिक्षा प्राप्त की, जिसमें जीवन के परमाणु संगठित हुए थे, वही छूट गया! और बिखर गया एक मनोहर स्वप्न, आह! वही जो मेरे इस जीवन-पथ का पाथेय रहा! प्रिय—

संसृति के वे सुंदरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना।
'वह उच्छृंखलता थी अपनी'—कहकर मन मत बहलाना।
मादकता-सी तरल हंसी के प्याले में उठती लहरी।
मेरे निःश्वासों से उठकर अधर चूमने को ठहरी।
मैं व्याकुल परिरंभ-मुकुल में बंदी अलि-सा कांप रहा।
छलक उठा प्याला, लहरी में मेरे सुख को माप रहा।
सजग सुप्त सौंदर्य हुआ, हो चपल चलीं भौंहें मिलने।
लीन हो गयी लहर, लगे मेरे ही नख छाती छिलने।
श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित रहा।
जीवन के उस पार उड़ाता हंसी, खड़ा मैं चकित रहा।
तुम अपनी निष्ठुर क्रीड़ा के विभ्रम से, बहकाने से।
सुखी हुए, फिर लगे देखने मुझे पथिक पहचाने से।
उस सुख का आलिंगन करने कभी भूलकर आ जाना।
मिलन-क्षितिज-तट मधु-जलनिधि में मृदु हिलकोर उठा जाना।

कुमारदास : (प्रवेश करके) साधु!

मातृगुप्त : (अपनी भावनाओं में तल्लीन, जैसे किसी को न देख रहा हो) अमृत के सरोवर में स्वर्ण-कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सबेरे सूर्य की किरणें उसे चूमने को लोटती थीं, संध्या में शीतल चांदनी उसे अपनी चादर से ढंक देती थी। उस मधुर सौंदर्य्य—उस अतींद्रिय जगत् की साकार कल्पना की

ओर मैंने हाथ बढ़ाया ही था कि वहीं स्वप्न टूट गया।

कमारदास : समझ में न आया, सिंहल और काश्मीर में क्या भेद है ! तुम गौरवर्ण हो, लंबे हो, खिंची हुई भौंहें हैं, सब होने पर भी सिंहलियों की घुंघराली लटें, उज्ज्वल श्याम शरीर क्या स्वप्न में भी देखने की वस्तु नहीं ?

मातृगुप्त : (**कुमारदास को जैसे सहसा देखकर**) पृथ्वी की समस्त ज्वाला को जहां प्रकृति ने अपने तुषार के अंचल से ढंक दिया है, उस हिमालय के—

कुमारदास : और बड़वानल को अनंत जलराशि से जो संतुष्ट कर रहा है, उस रत्नाकर को—अच्छा जाने दो, रत्नाकर नीचा है, गहरा है। हिमालय ऊंचा है, गर्व से सिर उठाये हैं, तब जय हो काश्मीर की। हां, उस हिमालय के···

मातृगुप्त : उस हिमालय के ऊपर प्रभात-सूर्य की सुनहरी प्रभा से आलोकित हिम का, पीले पोखराज का-सा एक महल था। उसी से नवनीत की पुतली झांककर विश्व को देखती थी। वह हिम की शीतलता से सुसंगठित थी। सुनहरी किरणों को जलन हुई। तप्त होकर महल को गला दिया। पुतली ! उसका मंगल हो, हमारे अश्रु की शीतलता उसे सुरक्षित रखे। कल्पना की भाषा के पंख गिरे जाते हैं, मौन-नीड़ में निवास करने दो। छेड़ो मत मित्र।

कुमारदास : तुम विद्वान् हो, सुकवि हो, तुमको इतना मोह ?

मातृगुप्त : यदि यह विश्व इंद्रजाल ही है, तो उस इंद्रजाल की अनंत इच्छा को पूर्ण करने का साधन—यह मधुर मोह चिरंजीवी हो और अभिलाषा से मचलने वाले भूखे हृदय को आहार मिले।

कुमारदास : मित्र ! तुम्हारी कोमल कल्पना, वाणी की वीणा में झंकार उत्पन्न करेगी। तुम सचेष्ट बनो, प्रतिभाशील हो। तुम्हारा भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल है।

मातृगुप्त : उसकी चिंता नहीं···दैन्य जीवन के प्रचंड आतप में सुंदर

स्नेह मेरी छाया बने। झुलसा हुआ जीवन धन्य हो जायेगा।

कुमारदास : मित्र ! इन थोड़े दिनों का परिचय मुझे आजीवन स्मरण रहेगा। अब तो मैं सिंहल जाता हूं—देश की पुकार है। इसलिए मैं स्वप्नों का देश 'भव्य-भारत' छोड़ता हूं। कविवर ! इस क्षीण परिचय कुमार धातुसेन को भूलना मत —कभी आना।

मातृगुप्त : सम्राट् कुमारगुप्त के सहचर, विनोदशील कुमारदास ! तुम क्या कुमार धातुसेन हो ?

कुमारदास : हां, मित्र, लंका का युवराज। हमारा एक मित्र, एक बाल-सहचर प्रख्यातकीर्त्ति, महाबोधि-विहार का श्रमण है ! उसे और गुप्त-साम्राज्य का वैभव देखने पर्यटक के रूप में भारत चला आया था। गौतम के पद-रज से पवित्र भूमि को खूब देखा। और, देखा दर्प से उद्धत गुप्त साम्राज्य के तीसरे पहर का सूर्य ! आर्य-अभ्युत्थान का यह स्मरणीय युग है। मित्र, परिवर्तन उपस्थित है !

मातृगुप्त : सम्राट् कुमारगुप्त के साम्राज्य में परिवर्तन !

धातुसेन : सरल युवक ! इस गतिशील जगत् में परिवर्तन पर आश्चर्य ! परिवर्तन रुका कि महापरिवर्त्तन—प्रलय—हुआ ! परिवर्तन ही सृष्टि है, जीवन है। स्थिर होना मृत्यु है, निश्चेष्ट शांति मरण है। प्रकृति क्रियाशील है। समय पुरुष और स्त्री की गेंद लेकर दोनों हाथ से खेलता है। पुल्लिग और स्त्रीलिंग की समष्टि अभिव्यक्ति की कुंजी है। पुरुष उछाल दिया जाता है, उत्क्षेपण होता है। स्त्री आकर्षण करती है। यही जड़ प्रकृति का चेतन रहस्य है।

मातृगुप्त : निस्संदेह। अनंतदेवी के इंगित पर कुमारगुप्त नाच रहे हैं —अद्भुत पहेली है।

धातुसेन : पहेली ! यह भी रहस्य ही है। पुरुष है कुतूहल और प्रश्न, और स्त्री है विश्लेषण, उत्तर और सब बातों का समाधान।

पुरुष के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने के लिए वह प्रस्तुत है। उसके कुतूहल—उसके अभावों को परिपूर्ण करने का उष्ण प्रयत्न और शीतल उपचार ! अभागा मनुष्य संतुष्ट —बच्चों के समान। पुरुष ने कहा—'क', स्त्री ने अर्थ लगा दिया—'कौवा', बस, वह रटने लगा। विषय-विह्वल वृद्ध सम्राट् तरुणी की आकांक्षाओं के साधन बन रहे हैं। काले मेघ क्षितिज में एकत्र हैं, शीघ्र ही अंधकार होगा। परंतु आशा का केंद्र ध्रुवतारा एक युवराज 'स्कंद' है। निर्मम शून्य आकाश में शीघ्र ही अनेक वर्ण के मेघ रंग भरेंगे। एक विकट अभिनय का आरंभ होने वाला है। तुम भी संभवतः उसके अभिनेताओं में से एक होगे। सावधान ! सिंहल तुम्हारे लिए प्रस्तुत है। (**प्रस्थान**)

मातृगुप्त : विचक्षण-उदार-राजकुमार ! (**प्रस्थान**)

दृश्य : चार

[**अनंतदेवी का सुसज्जित प्रकोष्ठ**]

अनंतदेवी : जया ! रात्रि का द्वितीय प्रहर तो व्यतीत हो रहा है, अभी भटार्क के आने का समय नहीं हुआ ?

जया : स्वामिनी ! आप बड़ा भयानक खेल खेल रही हैं।

अनंतदेवी : क्षुद्र हृदय—जो चूहे के शब्द से भी शंकित होते हैं, जो अपनी सांस से चौंक उठते हैं; उनके लिए उन्नति का कंटकित मार्ग नहीं है। महत्त्वाकांक्षा का दुर्गम स्वर्ग उनके लिए स्वप्न है !

जया : परंतु राजकीय अंतःपुर की मर्यादा बड़ी कठोर अथच फूल से कोमल है।

अनंतदेवी : अपनी नियति का पथ मैं अपने पैरों चलूंगी, अपनी शिक्षा रहने दे। (**जया कपाट के समीप कान लगाती है। संकेत होता है। गुप्त द्वार खुलते ही भटार्क उपस्थित होता है**)

भटार्क : महादेवी की जय हो !

अनंतदेवी : परिहास न करो मगध के महाबलाधिकृत ! देवकी के रहते किस साहस से तुम मुझे महादेवी कहते हो !

भटार्क : हमारा हृदय कह रहा है और आये दिन साम्राज्य की जनता, प्रजा, सभी कहेगी।

अनंतदेवी : मुझे विश्वास नहीं होता।

भटार्क : महादेवी ! कल सम्राट् के समक्ष जो विद्रूप और व्यंगबाण मुझ पर बरसाये गये हैं, वे अंतस्थल में गड़े हुए हैं। उन्हें निकालने का प्रयत्न नहीं करूंगा, वे ही भावी विप्लव में सहायक होंगे। चुभ-चुभकर वे मुझे सचेत करेंगे। मैं उन पथ-प्रदर्शकों का अनुसरण करूंगा। बाहुबल से, वीरता से और प्रचंड पराक्रमों से ही मुझे मगध के महाबलाधिकृत का माननीय पद मिला है, मैं उस सम्मान की रक्षा करूंगा। महादेवी ! आज मैंने अपने हृदय के मार्मिक रहस्य का अकस्मात् उद्घाटन कर दिया है। परंतु वह भी जान-बूझकर—कुछ समझकर। मेरा हृदय शूलों के लौहफलक सहने के लिए है, क्षुद्र विष-वाक्यबाण के लिए नहीं।

अनंतदेवी : तुम वीर हो भटार्क ! यह तुम्हारे उपयुक्त ही है। देवकी का प्रभाव जिस उग्रता से बढ़ रहा है, उसे देखकर मुझे पुरगुप्त के जीवन में शंका हो रही है ! महाबलाधिकृत, दुर्बल माता का हृदय उसके लिए आज ही से चिंतित है—विकल है। सम्राट् की मति एक-सी नहीं रहती, वे अव्यवस्थित और चंचल हैं। इस अवस्था में वे विलास की अधिक मात्रा से केवल जीवन के जटिल सुखों की गुत्थियां सुलझाने में व्यस्त हैं।

भटार्क : मैं सब समझ रहा हूं। पुष्यमित्रों के युद्ध में मुझे सेनापति की पदवी नहीं मिली, इसका कारण भी मैं जानता हूं। मैं दूध पीने वाला शिशु नहीं हूं और मुझे यह स्मरण है कि पृथ्वीसेन के विरोध करने पर भी आपकी कृपा से मुझे

महाबलाधिकृत का पद मिला है। मैं कृतघ्न नहीं हूं, महादेवी ! आप निश्चित रहें।

अनंतदेवी : पुष्यमित्रों के युद्ध में भेजने के लिए मैंने भी कुछ समझकर उद्योग नहीं किया। भटार्क ! क्रांति उपस्थित है, तुम्हारा यहां रहना आवश्यक है।

भटार्क : क्रांति के सहसा—इतने समीप उपस्थित होने के—कोई लक्षण मुझे तो नहीं दिखायी पड़ते।

अनंतदेवी : राजधानी में आनंद-विलास हो रहा है और पारसीक मदिरा की धारा बह रही है, इसके स्थान पर रक्त की धारा बहेगी ! आज तुम कालागुरु के गंध-धूम से संतुष्ट हो रहे हो, कल इन उच्च सौध-मंदिरों में महापिशाची की विप्लव-ज्वाला धधकेगी ! उस चिरायंध की उत्कट गंध असह्य होगी—तब तुम भटार्क ! उस आगामी खंड-प्रलय के लिए —प्रस्तुत हो कि नहीं ? (**ऊपर देखती हुई**) उहूं, प्रपंच-बुद्धि की कोई बात आज तक मिथ्या नहीं हुई।

भटार्क : कौन प्रपंच बुद्धि ?

अनंतदेवी : सूचीभेद्य अंधकार में छिपनेवाली रहस्यमयी नियति का—प्रज्वलित कठोर नियति का—नील आवरण उठाकर झांकने वाला ! उसकी आंखों में अभिचार का संकेत है, मुस्कराहट में विनाश की सूचना है, आंधियों से खेलता है—बातें करता है—बिजलियों से आलिंगन ! (**प्रपंचबुद्धि का सहसा प्रवेश**)

प्रपंचबुद्धि : स्मरण है—भाद्र की अमावस्या ?

[**भटार्क और अनंतदेवी सहमकर हाथ जोड़ते हैं।**]

अनंतदेवी : स्मरण है, भिक्षु शिरोमणे ! उसे मैं भूल सकती हूं ?

प्रपंचबुद्धि : कौन, महाबलाधिकृत ! हं-हं-हं-हं, तुम लोग सद्धर्म के अभिशाप की लीला देखोगे—है आंखों में इतना बल ? क्यों, समझ लिया था कि इन मुंडित-मस्तक जीर्ण-कलेवर भिक्षु-कंकालों में क्या धरा है ! देखो—शव-चिता में नृत्य करती हुई तारा का तांडव नृत्य, शून्य-सर्वनाशकारिणी प्रकृति की

—मुंडमालाओं की कंदुक-क्रीड़ा ! अश्वमेध हो चुके, उनके फलस्वरूप महानरमेध का उपसंहार भी देखो। (**देखकर**) है तुझमें—तू करेगा ? अच्छा महादेवी ! अमावस्या के पहले पहर में, जब नील गगन से भयानक और उज्ज्वल उल्कापात होगा—महाशून्य की ओर देखना। जाता हूं—सावधान ! (**प्रस्थान**)

भटार्क : महादेवी ! यह भूकंप के समान हृदय को हिला देने वाला कौन व्यक्ति है ? ओह, मेरा तो शिर घूम रहा है !

अनंतदेवी : यही तो भिक्षु प्रपंचबुद्धि हैं !

भटार्क : तब मुझे विश्वास हुआ। यह क्रूर-कठोर नर-पिशाच मेरी सहायता करेगा। मैं उस दिन के लिए प्रस्तुत हूं।

अनंतदेवी : तब प्रतिश्रुत होते हो ?

भटार्क : दास सदैव अनुचर रहेगा।

अनंतदेवी : अच्छा, तुम इसी गुप्त द्वार से जाओ। देखूं, अभी कादंब की मोह-निद्रा से सम्राट् जगे कि नहीं !

जया : (**प्रवेश करके**) परम भट्टारक अंगड़ाइयां ले रहे हैं। स्वामिनी, शीघ्र चलिए ! (**प्रस्थान**)

भटार्क : तो महादेवी, आज्ञा हो !

अनंतदेवी : (**देखती हुई**) भटार्क ! जाने को कहूं ? इस शत्रुपुरी में मैं असहाय अबला, इतना—आह ! (**आंसू पोंछती है**)

भटार्क : धैर्य रखिए। इस सेवक के बाहुबल पर विश्वास कीजिए !

अनंतदेवी : तो भटार्क, जाओ।

जया : (**सहसा प्रवेश करते**) चलिए—शीघ्र। (**दोनों जाती हैं**)

भटार्क : एक दुर्भेद्य नारी-हृदय में विश्व-प्रहेलिका का रहस्य-बीज है। ओह, कितनी साहसशील स्त्री है ! देखूं गुप्त-साम्राज्य के भाग्य की कुंजी यह किधर घुमाती है ! परंतु इसकी आंखों में काम-पिपासा के संकेत अभी उबल रहे हैं। अतृप्ति की चंचल प्रवंचना कपोलों पर रक्त होकर क्रीड़ा कर रही है। हृदय में श्वासों की गरमी विलास का संदेश वहन कर

रही है। परंतु···अच्छा चलूं, यह विचार करने का स्थान नहीं है। (गुप्त द्वार से जाता है)

दृश्य : पांच

[अंत:पुर का द्वार]

शर्वनाग : (टहलता हुआ) कौन-सी वस्तु देखी ? किस सौंदर्य्य पर मन रीझा ? कुछ नहीं—सदैव इसी सुंदरी खड्ग-लता की प्रभा पर मैं मुग्ध रहा। मैं नहीं जानता कि और भी कुछ सुंदर है। वह मेरी स्त्री—जिसके अभावों का कोष कभी खाली नहीं, जिसकी भर्त्सनाओं का भंडार अक्षय है, उससे मेरी अंतरात्मा कांप उठती है। आज मेरा पहरा है। घर से जान छूटी, परंतु रात बड़ी भयानक है। चलूं अपने स्थान पर बैठूं। सुनता हूं कि परम भट्टारक की अवस्था अत्यंत शोचनीय है—जाने भगवान्···

भटार्क : (प्रवेश करते) कौन ?

शर्वनाग : नायक शर्वनाग !

भटार्क : कितने सैनिक हैं ?

शर्वनाग : पूरा एक गुल्म।

भटार्क : अंत:पुर से कोई आज्ञा मिली है ?

शर्वनाग : नहीं।

भटार्क : तुमको मेरे साथ चलना होगा।

शर्वनाग : मैं प्रस्तुत हूं, कहां चलूं ?

भटार्क : महादेवी के द्वार पर।

शर्वनाग : वहां—मेरा क्या कर्त्तव्य होगा ?

भटार्क : कोई—न तो भीतर जाने पावे और न भीतर से बाहर आने पावे।

शर्वनाग : (चौंककर) इसका तात्पर्य ?

भटार्क : (गंभीरता से) तुमको महाबलाधिकृत की आज्ञा का पालन

करना चाहिए।

शर्वनाग : तब भी, क्या स्वयं महादेवी पर नियंत्रण रखना होगा ?

भटार्क : हां।

शर्वनाग : ऐसा !

[कोलाहल। भीषण उल्कापात]

भटार्क : ओह, ठीक समय हो गया ! अच्छा, मैं अभी आता हूं।

[द्वार खोलकर भटार्क भीतर जाता है। रामा का प्रवेश]

रामा : क्यों, तुम आज यहीं हो ?

शर्वनाग : मैं—मैं यहीं हूं—तुम कैसे ?

रामा : मूर्ख ! महादेवी सम्राट् को देखना चाहती है, परंतु उनके आने में बाधा है। गोबर-गणेश ! तू कुछ कर सकता है ?

शर्वनाग : मैं क्रोध से गरजते हुए सिंह की पूंछ उखाड़ सकता हूं, परंतु सिंहवाहिनी ! तुम्हें देखकर मेरे देवता कूच कर जाते हैं।

रामा : (पैर पटककर) तुम कीड़े से भी अपदार्थ हो !

शर्वनाग : न-न-न, ऐसा न कहो, मैं सब कुछ हूं। परंतु मुझे घबराओ मत, समझाकर कहो। मुझे क्या करना होगा ?

रामा : महादेवी देवकी की रक्षा करनी होगी, समझा ? क्या आज इस संपूर्ण गुप्त साम्राज्य में कोई ऐसा प्राणी नहीं जो उनकी रक्षा करे ? शत्रु अपने विषैले डंक और तीखे दाढ़ संवार रहे हैं। पृथ्वी के नीचे कुमंत्रणाओं का भूकंप चल रहा है।

शर्वनाग : यही तो मैं भी कभी-कभी सोचता था; परंतु···

रामा : तुम, जिस प्रकार हो सके, महादेवी के द्वार पर जाओ। मैं जाती हूं। (जाती है। एक सैनिक का प्रवेश)

सैनिक : नायक ! न जाने क्यों हृदय दहल उठा है, जैसे सनसन करती हुई, डर से, यह आधी रात खिसकती जा रही है ! पवन में गति है—परंतु शब्द नहीं। 'सावधान' रहने का शब्द मैं चिल्लाकर कहता हूं, परंतु मुझे ही सुनायी नहीं पड़ता है। यह सब क्या है नायक ?

शर्वनाग : तुम्हारी तलवार कहीं भूल तो नहीं गयी ?

सैनिक : म्यान हल्की-सी लगती है, टटोलता हूं—पर···

शर्वनाग : तुम घबराओ मत, तीन साथियों को साथ लेकर घूमो, सब को सचेत रखो। हम इसी शिला पर हैं, कोई डरने की बात नहीं। (**सैनिक जाता है—फाटक खोलकर पुरगुप्त निकलता है। पीछे से भटार्क और सैनिक**)

पुरगुप्त : नायक शर्वनाग !

शर्वनाग : जय हो कुमार की ! क्या आज्ञा है ?

पुरगुप्त : तुम साम्राज्य की शिष्टता सीखो।

शर्वनाग : दास चिर-अपराधी है कुमार ! (**सिर झुका लेता है**)

भटार्क : इन्हें महादेवी के द्वार पर जाने की आज्ञा दीजिए, ये सैनिक विश्वस्त वीर हैं।

पुरगुप्त : जाओ तुम महादेवी के द्वार पर—महाबलाधिकृत ने जैसा कहा है—वैसा करना।

शर्वनाग : जैसी आज्ञा। (**अपने सैनिकों को साथ लेकर जाता है—दूसरे नायक और सैनिक परिक्रमण करते हैं**)

भटार्क : कोई भी पूछे तो यह मत कहना कि सम्राट् का निधन हो गया। हां, बढ़ी हुई अवस्था का समाचार बतलाना और सावधान, कोई भी—चाहे वह कुमारामात्य ही क्यों न हों —भीतर न आने पावें। तुम यही कहना कि परम भट्टारक अत्यंत विकल हैं, किसी से मिलना नहीं चाहते—समझा ?

नायक : अच्छा···(**दोनों जाते हैं। फाटक बंद होता है**)

नायक : (सैनिकों से) आज बड़ी विकट अवस्था है, भाइयो सावधान !

[**कुमारामात्य पृथ्वीसेन, महादंडनायक, महाप्रतिहार का प्रवेश**]

महाप्रतिहार : नायक, द्वार खोलो, हम लोग परम भट्टारक का दर्शन करेंगे।

नायक : प्रभु ! किसी को भीतर जाने की आज्ञा नहीं है।

महाप्रतिहार : (चौंककर) आज्ञा ! किसकी आज्ञा ! अबोध ! तू नहीं जानता

सम्राट् के अंत:पुर पर स्वयं सम्राट् का भी उतना अधिकार नहीं जितना महाप्रतिहार का ? शीघ्र द्वार उन्मुक्त कर।

नायक : दंड दीजिए प्रभु, परंतु द्वार न खुल सकेगा।

महाप्रतिहार : तू क्या कह रहा है?

नायक : जैसी भीतर से आज्ञा मिली है।

कुमारामात्य : (पैर पटककर) ओह !

महादंडनायक : विलंब असह्य है, नायक ! द्वार से हट जाओ।

महाप्रतिहार : मैं आज्ञा देता हूं कि तुम अंत:पुर से हट जाओ युवक ! नहीं तो तुम्हें पदच्युत करूंगा।

नायक : यथार्थ है। परंतु मैं महाबलाधिकृत की आज्ञा से यहां हूं, और मैं उन्हीं के अधीनस्थ सैनिक हूं। महाप्रतिहार के अंत:पुर रक्षकों में मैं नहीं हूं।

महाप्रतिहार : क्या अंत:पुर पर भी सैनिक नियंत्रण है ? पृथ्वीसेन ?

पृथ्वीसेन : इसका परिणाम भयानक है। अंतिम शय्या पर लेटे हुए सम्राट् की आत्मा को कष्ट पहुंचाना होगा।

महाप्रतिहार : अच्छा (कुछ देखकर) हां, शर्वनाग कहां गया ?

नायक : उसे महाबलाधिकृत ने दूसरे स्थान पर भेजा है।

महाप्रतिहार : (क्रोध से) मूर्ख शर्वनाग ! (अंत:पुर से क्षीण क्रंदन)

महादंडनायक : (कान लगाकर सुनते हुए) क्या सब शेष हो गया ? हम अवश्य भीतर जायेंगे।

[तीनों तलवार खींच लेते हैं। नायक भी सामने आ जाता है। द्वार खोलकर पुरगुप्त और भटार्क का प्रवेश]

पृथ्वीसेन : भटार्क ! यह सब क्या ?

भटार्क : (तलवार खींचकर सिर से लगाता हुआ) परम भट्टारक राजाधिराज पुरगुप्त की जय हो ! माननीय कुमारामात्य, महादंडनायक और महाप्रतिहार साम्राज्य के नियमानुसार, शस्त्र अर्पण करके; परम भट्टारक का अभिवादन कीजिए।

[तीनों एक-दूसरे का मुंह देखते हैं।]

महाप्रतिहार : तब क्या सम्राट् कुमारगुप्त महेंद्रादित्य अब संसार में नहीं हैं ?

भटार्क : नहीं।

पृथ्वीसेन : परंतु उत्तराधिकारी—युवराज स्कंदगुप्त ?

पुरगुप्त : चुप रहो। तुम लोगों को बैठकर व्यवस्था नहीं देनी होगी—उत्तराधिकारी का निर्णय स्वयं स्वर्गीय सम्राट् कर गये हैं।

पृथ्वीसेन : परंतु प्रमाण ?

पुरगुप्त : क्या तुम्हें प्रमाण देना होगा ?

पृथ्वीसेन : अवश्य।

पुरगुप्त : महाबलाधिकृत ! इन विद्रोहियों को बंदी करो ! (भटार्क आगे बढ़ता है)

पृथ्वीसेन : ठहरो भटार्क ! तुम्हारी विजय हुई, परंतु एक बात—

पुरगुप्त : आधी बात भी नहीं, बंदी करो—

पृथ्वीसेन : कुमार ! तुम्हारे दुर्बल और अत्याचारी हाथों में गुप्त-साम्राज्य का राजदंड टिकेगा नहीं। संभवतः तुम साम्राज्य पर विपत्ति का आवाहन करोगे। इसलिए कुमार ! इससे विरत हो जाओ।

पुरगुप्त : महाबलाधिकृत ! क्यों विलंब करते हो ?

भटार्क : आप लोग शस्त्र रखकर आज्ञा मानिए।

महाप्रतिहार : आततायी ! यह स्वर्गीय आर्य्य चंद्रगुप्त का दिया हुआ खड्ग तेरी आज्ञा से नहीं रखा जा सकता। उठा अपना शस्त्र और अपनी रक्षा कर।

पृथ्वीसेन : महाप्रतिहार ! सावधान ! क्या करते हो ? यह अंतर्विद्रोह का समय नहीं है ! पश्चिम और उत्तर से काली घटाएं उमड़ रही हैं, यह समय बल-नाश करने का नहीं—आओ, हम लोग गुप्त-साम्राज्य के विधानानुसार चरम प्रतिकार करें। बलिदान देना होगा। परंतु भटार्क ! जिसे तुम खेल समझकर हाथ में ले रहे हो, उस काल-भुजंगी राष्ट्रनीति

की—प्राण देकर भी—रक्षा करना। एक नहीं, सौ स्कंदगुप्त उस पर न्योछावर हों ! आर्य्य साम्राज्य की जय हो ! (**छुरा मारकर गिरता है। महाप्रतिहार और महादंडनायक भी वैसा ही करते हैं**]

पुरगुप्त : पाखंड स्वयं विदा हो गये—अच्छा ही हुआ।

भटार्क : परंतु भूल हुई। ऐसे स्वामिभक्त सेवक !

पुरगुप्त : कुछ नहीं। (**भीतर जाता है**)

भटार्क : तो जायें, सब जायें, गुप्त-साम्राज्य के हीरों के-से उज्ज्वल-हृदय, वीर युवकों का शुद्ध रक्त, सब मेरी प्रतिहिंसा राक्षसी के लिए बलि हों !

दृश्य : छः

[**नगर-प्रांत के पथ में**]

मुद्गल : (**प्रवेश करके**) किसी के सम्मान-सहित निमंत्रण देने पर, पवित्रता से हाथ-पैर धोकर चौके पर बैठ जाना—दूसरी बात है, और भटकते, थकते, उछलते-कूदते, ठोकर खाते और लुढ़कते-हाथ-पैर की पूजा करते हुए मार्ग चलना—एक भिन्न वस्तु। कहां हम और कहां यह दौड़—कुसुमपुरी से अवंती और अवंती से मूलस्थान ! इस बार की आज्ञा का तो पालन करता हूं, परंतु यदि, तथापि, पुनश्च, फिर भी, ऐसी आज्ञा मिली कि इस ब्राह्मण ने साष्टांग प्रणाम किया। अच्छा, इस वृक्ष की छाया में बैठकर विचार कर लूं कि सैकड़ों योजन लौट चलना अच्छा है कि थोड़ा और चलकर काम कर लेना ! (**गठरी रखकर बैठे-बैठे ऊंघने लगता है**)

[**मातृगुप्त का प्रवेश**]

मातृगुप्त : मुझे तो युवराज ने मूलस्थान की परिस्थिति संभालने के लिए भेजा, देखता हूं कि यह मुद्गल भी यहां आ पहुंचा। चलें, इसे कुछ तंग करें—थोड़ा मनोविनोद ही सही।

[कपड़े से मुंह छिपाये गठरी खींचकर चलता है।]

मुद्गल : (उठकर) ठहरो भाई, हमारे जैसे साधारण लोग अपनी गठरी आप ही ढोते हैं, तुम कष्ट न करो।

[मातृगुप्त चक्कर काटता है। मुद्गल पीछे-पीछे दौड़ता है।]

मातृगुप्त : (दूर खड़ा होकर) अब आगे बढ़े कि तुम्हारी टांग टूटी!

मुद्गल : अपनी गठरी बचाने में टांग टूटना बुरा नहीं, अपशकुन नहीं। तुम यह न समझना कि हम दूर चलते-चलते थक गये हैं। तुम्हारा पीछा न छूटेगा। हम ब्राह्मण हैं, हम से शास्त्रार्थ कर लो। डंडा न दिखाओ। हां, मेरी गठरी जो तुम लेते हो, इसमें कौन-सा न्याय है, बोलो?

मातृगुप्त : न्याय! तब तो तुम आप्तवाक्य मानते होगे?

मुद्गल : अच्छा तो तर्कशास्त्र लगाना पड़ेगा?

मातृगुप्त : हां, तुमने गीता पढ़ी होगी?

मुद्गल : हां, अवश्य! ब्राह्मण, और गीता न पढ़े!

मातृगुप्त : उसमें लिखा है कि—'नत्वेवाहं जातु नाऽसौ न त्वं नेमे'—न हम हैं न तुम हो, न यह वस्तु है; न तुम्हारी है, न हमारी—फिर इस छोटी-सी गठरी के लिए इतना झगड़ा!

मुद्गल : ओहो! तुम समझे नहीं!

मातृगुप्त : क्या?

मुद्गल : गीता सुनने के बाद क्या हुआ?

मातृगुप्त : महाभारत!

मुद्गल : तब भइया, इस गठरी के लिए महाभारत का एक लघु संस्करण हो जाना आवश्यक है। गठरी में हाथ लगाया कि डंडा (तानते हुए) लगा।

मातृगुप्त : मुद्गल, डंडा मत तानो, मैं वैसा मूर्ख नहीं कि सूच्यग्र-भाग के लिए दूध और मधु से बना हुआ रक्त—एक बूंद भी गिराऊं! (गठरी देता है)

मुद्गल : अरे कौन! मातृगुप्त!

मातृगुप्त : (नेपथ्य का कोलाहल सुनते) हां मुद्गल ! इधर तो शकों और हूणों की सम्मिलित सेना घोर आतंक फैला रही है, चारों ओर विप्लव का साम्राज्य है। निरीह भारतीयों की घोर दुर्दशा है।

मुद्गल : और मैं महादेवी का संदेश लेकर अवंती गया, वहां युवराज नहीं थे। बलाधिकृत पर्णदत्त की आज्ञा हुई कि महाराज-पुत्र गोविंद गुप्त को जिस तरह हो—खोज निकालो। यहां तो विकट समस्या है। हम लोग क्या कर सकते हैं ?

मातृगुप्त : कुछ नहीं—केवल भगवान् से प्रार्थना ! साम्राज्य में कोई सुननेवाला नहीं, अकेले युवराज स्कंदगुप्त क्या करेंगे ?

मुद्गल : परंतु भाई, हम ईश्वर होते तो इन मनुष्यों की कोई प्रार्थना सुनते ही नहीं। इनको हर काम में हमारी आवश्यकता पड़ती—मैं तो घबरा जाता, भला वह तो कुछ सुनते भी हैं।

मातृगुप्त : नहीं मुद्गल, निरीह प्रजा का नाश देखा नहीं जाता। क्या इनकी उत्पत्ति का यही उद्देश्य था ? क्या इनका जीवन केवल चींटियों के समान किसी की प्रतिहिंसा पूर्ण करने के लिए है ? देखो—वह दूर पर बंधे हुए नागरिक और उन पर हूणों की नृशंसता ! ओह !!

मुद्गल : अरे ! हाय रे बाप !!

मातृगुप्त : सावधान ! असहाय अवस्था में प्रार्थना के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं, हम लोग भगवान से विनती करें—

दोनों : उतारोगे अब कब भू-भार।
वार-बार क्यों कह रक्खा था लूंगा मैं अवतार।
उमड़ रहा है इस भूतल पर दुख का पारावार।
बाड़व लेलिहान जिह्वा का करता है विस्तार।
प्रलय-पयोधर बरस रहे हैं—रक्त-अश्रु की धार।
मानवता में राक्षसत्व का अब है पूर्ण प्रचार।
पड़ा नहीं कानों में अब तक क्या यह हाहाकार ?
सावधान हो अब तुम जानो मैं तो चुका पुकार !

[बंदियों के साथ हूण सैनिकों का प्रवेश]

हूण : चुप रह, क्या गाता है ?

मुद्गल : हें-हें, भीख मांगता हूं, गीत गाता हूं। आप भी कुछ दीजिएगा। (दीन मुद्रा बनाता है)

हूण : (धक्का देते हुए) चल, एक ओर खड़ा हो। हां जी, इन दुष्टों ने कुछ देना अभी स्वीकार नहीं किया—बड़े कुत्ते हैं !

नागरिक : हम निरीह प्रजा हैं। हम लोगों के पास क्या रह गया जो आप लोगों को दें। सैनिकों ने तो पहले ही लूट लिया है।

हूण-सेनापति : तुम लोग बातें खूब बनाते हो। अपना छिपा हुआ धन देकर प्राण बचाना चाहते हो तो शीघ्रता करो, नहीं तो गरम किये हुए लोहे प्रस्तुत हैं—कोड़े और तेल में तर कपड़े भी। उस कष्ट का स्मरण करो !

नागरिक : प्राण तो तुम्हारे हाथों में हैं, जब चाहो ले लो।

हूण-सेनापति : (कोड़े से मारता हुआ) उसे तो लेंगे ही, पर धन कहां है ?

नागरिक : नहीं है निर्दय हत्यारे ! कह दिया कि नहीं है !

हूण-सेनापति : (सैनिकों से) इन बालकों को तेल से भीगा हुआ कपड़ा डालकर जलाओ और स्त्रियों को गरम लोहे से दागो।

स्त्रियां : हे नाथ—

हमारे निर्बलों के बल कहां हो ?
हमारे दीन के संबल कहां हो ?
नहीं हो नाम ही बस नाम है क्या ?
सुना केवल यहां हो या वहां हो !
पुकारा जब किसी ने तब सुना था—
भला विश्वास यह हमको कहां हो !

[स्त्रियों को पकड़कर हूण खींचते हैं]

मातृगुप्त : हे प्रभु—हमें विश्वास दो अपना बना लो।
सदा स्वच्छंद हों—चाहे जहां हों।
इन निरीहों के लिए प्राण उत्सर्ग करना धर्म है—कायरो, स्त्रियों पर यह अत्याचार !

[तलवार से बंधन काटता है। लपकते हुए एक संन्यासी का प्रवेश]

संन्यासी : साधु ! वीर, संभलकर खड़े हो जाओ—भगवान, पर विश्वास करके खड़े हो।

मुद्गल : (पहचानता हुआ) जय हो, महाराजपुत्र गोविंदगुप्त की जय हो !

[सब उत्साहित होकर भिड़ जाते हैं। हूण-सैनिक भागते हैं]

गोविंदगुप्त : अच्छा, मुद्गल ! तुम यहां कैसे ? और युवक ! तुम कौन हो ?

मातृगुप्त : युवराज स्कंदगुप्त का अनुचर।

मुद्गल : वीर-पुंगव ! इतने दिनों पर दर्शन भी हुआ तो इस वेश में !

गोविंदगुप्त : क्या कहूं मुद्गल ! स्कंद कहां है ?

मातृगुप्त : उज्जयिनी में !

गोविंदगुप्त : अच्छा है, सुरक्षित है। चलो, दुर्ग में हमारी सेना पहुंच चुकी है—वहां विश्राम करो। यहां का प्रबंध करके हमको शीघ्र आवश्यक कार्य से मालव जाना है। अब हूणों के आतंक का डर नहीं।

सब : जय हो महाराजपुत्र गोविंदगुप्त की !

गोविंदगुप्त : पुष्यमित्रों के युद्ध का क्या परिणाम हुआ ?

मातृगुप्त : विजय हुई।

गोविंदगुप्त : और मालव का ?

मुद्गल : युवराज थोड़ी सेना लेकर बंधुवर्म्मा की सहायता के लिए गये हैं !

गोविंदगुप्त : (ऊपर देखकर) वीरपुत्र है। स्कंद ! आकाश के देवता और पृथ्वी की लक्ष्मी तुम्हारी रक्षा करें ! आर्य्य-साम्राज्य के तुम्हीं एकमात्र भरोसा हो।

मुद्गल : तब, महाराजपुत्र ! बड़ी भूख लगी है। प्राण बचते ही भूख

का धावा हो गया, शीघ्र रक्षा कीजिए ।

गोविंदगुप्त : हां-हां, सब लोग चलो। (**सब जाते हैं**)

दृश्य : सात

[**अवंती के दुर्ग में देवसेना, विजया, जयमाला**]

विजया : विजय किसकी होगी—कौन जानता है !

जयमाला : तुमको केवल अपने धन की रक्षा का इतना ध्यान है !

देवसेना : और देश के मान का, स्त्रियों की प्रतिष्ठा का, बच्चों की क्षमा का कुछ नहीं ?

विजया : (**संकुचित होकर**) नहीं, मेरा अभिप्राय यह नहीं था ।

जयमाला : परंतु एक उपाय है ।

विजया : वह क्या ?

जयमाला : रक्षा का निश्चित उपाय ।

देवसेना : तुम्हारे पिता ने तो उस समय नहीं माना, न सुना, नहीं तो आज इस भय का अवसर ही न आता ।

जयमाला : तुम्हारी अपार धन-राशि में से एक क्षुद्र अंश—वही यदि इन धन-लोलुप शृंगालों को दे दिया जाता, तो···

विजया : किंतु इस प्रकार अर्थ देकर विजय खरीदना तो देश की वीरता के प्रतिकूल है ।

जयमाला : ठहरो, कोई आ रहा है। (**बंधुवर्म्मा का प्रवेश**)

बंधुवर्म्मा : प्रिये ! अभी तक युवराज का कोई संदेश नहीं मिला। संभवतः शकों और हूणों की सम्मिलित वाहिनी से आज दुर्ग की रक्षा न कर सकूंगा।

जयमाला : नाथ ! तब क्या मुझे स्कंदगुप्त का अभिनय करना होगा ? क्या मालवेश को दूसरे की सहायता पर ही राज्य करने का साहस हुआ था ? जाओ प्रभु ! सेना लेकर सिंह-विक्रम से शत्रु पर टूट पड़ो ! दुर्ग-रक्षा का भार मैं लेती हूं ।

विजया : महाराज ! यह केवल वाचालता है। दुर्ग-रक्षा का भार सुयोग्य सेनापति पर होना चाहिए।

बंधुवर्म्मा : घबराओ मत श्रेष्ठि-कन्ये !

जयमाला : स्वर्ण-रत्न की चमक देखने वाली आंखें बिजली-सी तलवारों के तेज को कब सह सकती हैं। श्रेष्ठि-कन्ये ! हम क्षत्राणी हैं, चिर-संगिनी खड्गलता का हम लोगों से चिर-स्नेह है।

बंधुवर्म्मा : प्रिये ! शरणागत और विपन्न की मर्यादा रखनी चाहिए। अच्छा, दुर्ग का तो नहीं, अंत:पुर का भार तुम्हारे ऊपर है।

देवसेना : भैया, आप निश्चित रहिए।

बंधुवर्म्मा : भीम दुर्ग का निरीक्षण करेगा, मैं जाता हूं ! (जाता है)

विजया : भयानक युद्ध समीप जान पड़ता है—क्यों राजकुमारी !

देवसेना : तुम वीणा ले लो तो मैं गाऊं।

विजया : हंसी न करो राजकुमारी !

जयमाला : बुरा क्या है ?

विजया : युद्ध और गान !

जयमाला : युद्ध क्या गान नहीं है ? रुद्र का शृंगीनाद, भैरवी का तांडव नृत्य, और शस्त्रों का वाद्य मिलकर एक भैरव-संगीत की सृष्टि होती है। जीवन के अंतिम दृश्य को जानते हुए, अपनी आंखों से देखना, जीवन-रहस्य के चरम सौंदर्य की नग्न और भयानक वास्तविकता का अनुभव—केवल सच्चे वीर-हृदय को होता है, ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का वह निरंतर संगीत है। उसे सुनने के लिए हृदय में साहस और बल एकत्र करो। अत्याचार के श्मशान में ही मंगल का—शिव का, सत्य-सुंदर संगीत का समारंभ होता है।

देवसेना : तो भाभी, मैं तो गाती हूं। एक बार गा लूं, हमारा प्रिय-गान फिर गाने को मिले या नहीं !

जयमाला : तो गाओ न !

विजया : रानी ! तुम लोग आग की चिनगारियां हो—या स्त्री हो ? देवी ज्वालामुखी की सुंदर लट के समान तुम लोग···

जयमाला : सुनो, देवसेना गा रही है।

देवसेना :

भरा नैनों में मन में रूप ।
किसी छलिया का अमल अनूप ।
जल-थल, मारुत, व्योम में, जो—छाया है सब ओर ।
खोज-खोजकर खो गयी मैं, पागल-प्रेम विभोर ।
भांग से भरा हुआ यह कूप ।
भरा नैनों में मन में रूप ।
धमनी की तंत्री बजी, तू रहा लगाये कान ।
बलिहारी मैं, कौन तू है मेरा जीवन-प्रान ।
खेलता जैसे छाया-धूप ।
भरा नैनों में मन में रूप ।

[सहसा भीमवर्म्मा का प्रवेश]

भीमवर्म्मा : भाभी, दुर्ग का द्वार टूट चुका है। हम अंतःपुर के बाहरी द्वार पर हैं। अब तुम लोग प्रस्तुत रहना।

जयमाला : उनका क्या समाचार है ?

भीमवर्म्मा : अभी कुछ नहीं मिला। गिरिसंकट में उन्होंने शत्रुओं को रोका था, परंतु दूसरी शत्रु-सेना गुप्त मार्ग से आ गयी। मैं जाता हूं, सावधान ! (**जाता है। नेपथ्य में कोलाहल। भयानक शब्द**)

विजया : महारानी ! किसी सुरक्षित स्थान में निकल चलिए।

जयमाला : (**छुरी निकालकर**) रक्षा करनेवाली तो पास है, डर क्या, क्यों देवसेना ?

देवसेना : भाभी ! श्रेष्ठि-कन्या के पास नहीं है, उन्हें भी दे दो।

विजया : न-न-न, मैं लेकर क्या करूंगी, भयानक !

देवसेना : इतनी सुंदर वस्तु क्या कलेजे में रख लेने योग्य नहीं है ?

विजया : (**धड़ाके का शब्द सुनकर**) ओह ! तुम लोग बड़ी निर्दय हो !

जयमाला : जाओ, एक ओर छिपकर खड़ी हो जाओ !

[रक्त से लथपथ भीमवर्म्मा का प्रवेश]

भीमवर्म्मा : भाभी ! रक्षा न हो सकी, अब तो मैं जाता हूं। वीरों के वरणीय सम्मान को अवश्य प्राप्त करूंगा। परंतु···

जयमाला : हम लोगों की चिंता न करो—वीर ! स्त्रियों की, ब्राह्मणों की, पीड़ितों और अनाथों की रक्षा में प्राण विसर्जन करना क्षत्रिय का धर्म है। एक प्रकार की ज्वाला अपनी तलवार से फैला दो। भैरव के शृंगीनाद के समान प्रबल हुंकार से शत्रु का हृदय कंपा दो—वीर ! बढ़ो, गिरो तो मध्याह्न के भीषण सूर्य के समान—आगे-पीछे, सर्वत्र आलोक और उज्ज्वलता रहे।

[भीमवर्म्मा का प्रस्थान। द्वार का टूटना। विजयी शत्रु-सेनापति का प्रवेश। पुनः भीमवर्म्मा का आकर रोकना। गिरते-गिरते भीमवर्म्मा का जयमाला और देवसेना की सहायता से युद्ध। सहसा स्कंदगुप्त का सैनिकों के साथ प्रवेश। युवराज स्कंदगुप्त की जय का घोष। शक और हूण स्तंभित होते हैं]

स्कदगुप्त : ठहरो देवियो ! स्कंद के जीवित रहते स्त्रियों को शस्त्र नहीं चलाना पड़ेगा। (युद्ध। शत्रु पराजित और बंदी होते हैं)

विजया : (झांककर) अहा ! कैसी भयानक और सुंदर मूर्ति है !

स्कंदगुप्त : (विजया को देखकर) यह—कौन ?

[पटाक्षेप]

द्वितीय अंक

दृश्य : एक

[मालव में शिप्रा-तट पर कुंज में]

देवसेना : इसी पृथ्वी पर है—और अवश्य है।

विजया : कहां राजकुमारी ? संसार में छल, प्रवंचना और हत्याओं को देखकर कभी-कभी मान ही लेना पड़ता है कि यह जगत् ही नरक है, कृतघ्नता और पाखंड का साम्राज्य यहीं है। छीना-झपटी, नोच-खसोट, मुंह में से आधी रोटी छीनकर भागने वाले विकट जीव यहीं तो हैं ! श्मशान के कुत्तों से भी बढ़कर मनुष्यों की पतित दशा है।

देवसेना : पवित्रता की माप है मलिनता, सुख का आलोचक है दुःख, पुण्य की कसौटी है पाप। विजया ! आकाश के संदर नक्षत्र आंखों से केवल देखे ही जाते हैं, वे कुसुम-कोमल हैं कि वज्र-कठोर—कौन कह सकता है। आकाश में खेलती हुई कोकिल की करुणामयी तान का कोई रूप है या नहीं, उसे देख नहीं पाते। शतदल और पारिजात का सौरभ बिठा रखने की वस्तु नहीं। परंतु इसी संसार में नक्षत्र से उज्ज्वल—किंतु कोमल—स्वर्गीय संगीत की प्रतिमा तथा स्थायी कीर्त्ति-सौरभ वाले प्राणी देखे जाते हैं। उन्हीं से स्वर्ग का अनुमान कर लिया जा सकता है।

विजया : होंगे, परंतु मैंने नहीं देखा।

देवसेना : तुमने सचमुच कोई ऐसा व्यक्ति नहीं देखा ?

विजया : नहीं तो—

देवसेना : समझकर कहो।

विजया : हां, समझ लिया।

देवसेना : क्या तुम्हारा हृदय कभी पराजित नहीं हुआ ? विजया ! विचार कर कहो, किसी भी असाधारण महत्त्व से तुम्हारा उद्दंड हृदय अभिभूत नहीं हुआ ? यदि हुआ है—वही स्वर्ग है। जहां हमारी सुंदर कल्पना आदर्श का नीड़ बनाकर विश्राम करती है—वही स्वर्ग है। वही विहार का, वही प्रेम करने का स्थल—स्वर्ग है, और वह इसी लोक में मिलता है। जिसे नहीं मिला, वह इस संसार में अभागा है।

विजया : तो राजकुमारी—मैं कह दूं ?

देवसेना : हां-हां, तुम्हें कहना ही होगा।

विजया : मुझे तो आज तक किसी को देखकर हारना नहीं पड़ा। हां, एक युवराज के सामने मन ढीला हुआ, परंतु मैं उसे कुछ राजकीय प्रभाव कहकर टाल भी सकती हूं।

देवसेना : विजया ! वह टालने से, बहला देने से, नहीं हो सकता ! तुम भाग्यवती हो, देखो, यदि यह स्वर्ग तुम्हारे हाथ लगे। (**सामने देखकर**) अरे लो—वह युवराज आ रहे हैं—हम लोग हट चलें। (**दोनों जाती हैं। स्कंदगुप्त का प्रवेश। पीछे चक्रपालित**)

स्कंदगुप्त : विजय का क्षणिक उल्लास हृदय की भूख मिटा देगा ? कभी नहीं। वीरों का भी क्या ही व्यवसाय है, वह क्या ही उन्मत्त भावना है ! चक्रपालित ! संसार में जो सबसे महान् है, वह क्या है ? त्याग ! त्याग का ही दूसरा नाम महत्त्व है। प्राणों का मोह त्याग करना—वीरता का रहस्य है।

चक्रपालित : युवराज ! संपूर्ण संसार कर्मण्य वीरों की चित्रशाला है। वीरत्व एक स्वावलंबी गुण है। प्राणियों का विकास संभवतः

इसी विचार के ऊर्ज्जित होने से हुआ है। जीवन में वही तो विजयी होता है जो रात-दिन 'युद्धस्व विगतज्वरः' का शंख-नाद सुना करता है।

स्कंदगुप्त : चक्र ! ऐसा जीवन तो विडंबना है, जिसके लिए रात-दिन लड़ना पड़ ! आकाश में जब शीतल शुभ्र शरद-शशि का विलास हो, तब भी दांत-पर-दांत रखे मुट्ठियों को बांधे—लाल आंखों से एक-दूसरे को घूरा करें ! बसंत के मनोहर प्रभात में, निभृत कगारों में चुपचाप बहने वाली सरिताओं का स्रोत गरम रक्त बहाकर लाल कर दिया जाय ! नहीं-नहीं, चक्र ! मेरी समझ में मानव-जीवन का यही उद्देश्य नहीं है। कोई और भी निगूढ़ रहस्य है चाहे मैं स्वयं उसे न जान सका हूं।

चक्रपालित : सावधान युवराज ! प्रत्येक जीवन में कोई बड़ा काम करने के पहले ऐसे ही दुर्बल विचार आते हैं। वह तुच्छ प्राणों का मोह है। अपने को झगड़ों से अलग रखने के लिए, अपनी रक्षा के लिए यह उसका क्षुद्र प्रयत्न होता है। अयोध्या चलने के लिए आपने कब का समय निश्चिन किया है? राजसिंहासन कब तक सूना रहेगा? पुष्यमित्रों और शकों के युद्ध समाप्त हो चुके हैं।

स्कंदगुप्त : तुम मुझे उत्तेजित कर रहे हो !

चक्रपालित : हां, युवराज ! मुझे यह अधिकार है।

स्कंदगुप्त : नहीं चक्र ! अश्वमेध-पराक्रम स्वर्गीय सम्राट् कुमारगुप्त का शासन मेरे योग्य नहीं हैं। मैं झगड़ा नहीं करना चाहता। मुझे सिंहासन न चाहिए। पुरगुप्त को रहने दो। मेरा अकेला जीवन है, मुझे···

चक्रपालित : यह नहीं होगा। यदि राज्यशक्ति के केंद्र में ही अन्याय होगा, तब तो समग्र राष्ट्र अन्यायों का क्रीड़ा-स्थल हो जायेगा। आपको सबके अधिकारों की रक्षा के लिए अपना अधिकार सुरक्षित करना ही पड़ेगा।

[चर का आकर कुछ संकेत करना। दोनों का प्रस्थान। देवसेना और विजया का प्रवेश]

विजया : यह क्या राजकुमारी ! युवराज तो उदासीन हैं।

देवसेना : हां, विजया ! युवराज की मानसिक अवस्था कुछ बदली हुई है।

विजया : दुर्बलता इन्हें राज्य से हटा रही है।

देवसेना : कहीं तुम्हारा सोचा हुआ युवराज के महत्त्व का परदा तो नहीं हट रहा है? क्यों विजया ! वैभव का अभाव तुम्हें खटकने तो नहीं लगा ?

विजया : राजकुमारी ! तुम तो निर्दय वाक्य-वाणों का प्रयोग कर रही हो।

देवसेना : नहीं विजया, बात ऐसी नहीं है ! धनवानों के हाथ में एक ही माप हैं। वे—विद्या, सौंदर्य, बल, पवित्रता और तो क्या—हृदय को भी उसी से मापते हैं। वह माप है उनका—ऐश्वर्य्य !

विजया : परंतु राजकुमारी ! इस उदार दृष्टि से तो चक्रपालित क्या पुरुष नहीं है? अवश्य है। वीर हृदय है, प्रशस्त वक्ष है, उदार मुखमंडल है।

देवसेना : और सबसे अच्छी एक बात है—तुम समझती हो कि वह महत्त्वाकांक्षी है। उसे तुम अपनी वैभव से क्रय कर सकती हो—क्यों भाई, तुमको लेना है, तुम स्वयं लो, मेरी दलाली नहीं चलेगी।

विजया : जाओ राजकुमारी—

देवसेना : एक गाना सुनोगी?

विजया : महारानी खोजती होंगी, अब चलना चाहिए।

देवसेना : तब तुम अभी प्रेम करने का, मनुष्य फंसाने का, ठीक सिद्धांत नहीं जानती हो।

विजया : क्या ?

देवसेना : नये ढंग के आभूषण, सुंदर, भरा हुआ यौवन—यह सब तो

चाहिए ही, परंतु एक वस्तु और चाहिए। पुरुष को वशीभूत करने के पहले चाहिए, धोखे की टट्टी। मेरा तात्पर्य है—एक वेदना अनुभव करने का, एक विह्वलता का अभिनय उसके मुख पर रहे—जिसके कुछ आड़ी-तिरछी रेखाएं मुख पर पड़ें और मूर्ख मनुष्य उन्हीं को लेने के लिए व्याकुल हो जाये। और फिर दो बूंद गरम-गरम आंसू और इसके बाद एक तान—वागीश्वरी की करुण-कोमल तान। बिना इसके सब रंग फीका—

विजया : उस समय भी गान ?

देवसेना : बिना गान के कोई कार्य नहीं। विश्व के प्रत्येक कंप में एक ताल है। आह ! तुमने सुना नहीं ? दुर्भाग्य तुम्हारा। सुनोगी?

विजया : राजकुमारी ! गाने का भी रोग होता है क्या ? हाथ को ऊंचे-नीचे हिलाना, मुंह बनाकर एक भाव प्रकट करना, फिर शिर को जोर से हिला देना, जैसे उस तान से शून्य में एक हिलोर उठ गयी !

देवसेना : विजया ! प्रत्येक परमाणु के मिलने में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलाने में एक लय है। मनुष्य ने अपना स्वर विकृत कर रखा है। इसी से उसका स्वर विश्व-वीणा में शीघ्र नहीं मिलता। पांडित्य के मारे जब देखो, जहां देखो, बेताल-बेसुर बोलेगा। पक्षियों को देखो, उनकी 'चहचह', 'कलकल', 'छलछल' में, काकुली में—रागिनी है।

विजया : राजकुमारी, क्या कह रही हैं ?

देवसेना : तुमने एकांत टीले पर, सबसे अलग, शरद के सुंदर प्रभात में फूला हुआ, फूलों से लदा हुआ पारिजात वृक्ष देखा है ?

विजया : नहीं तो।

देवसेना : उसका स्वर अन्य वृक्षों से नहीं मिलता। वह अकेले अपने सौरभ की तान से दक्षिण पवन में कंप उत्पन्न करता है, कलियों को चटकाकर, ताली बजाकर, झूम-झूमकर नाचता

है। अपना नृत्य, अपना संगीत, वह स्वयं देखता है—सुनता है। उसके अंतर में जीवन-शक्ति वीणा बजाती है। वह बड़े कोमल स्वर में गाता है—

घने—प्रेम-तरु-तले
बैठ छांह लो भव-आतप से तापित और जले।
छाया है विश्वास की श्रद्धा-सरिता-कूल,
सिंची आंसुओं से मृदुल है परागमय धूल,
यहां कौन जो छले!
फूल चू पड़े बात से भरे हृदय का घाव,
मन की कथा व्यथा भरी बैठो सुनते जाव,
कहां जा रहे चले!
पी लो छवि-रस-मधुरी सींचो जीवन-बेल
जी लो सुख से आयु-भर यह माया का खेल,
मिलो स्नेह से गले।
घने—प्रेम-तरु-तले।

[बंधुवर्म्मा का प्रवेश]

देवसेना : (संकुचित होती-सी) अरे भइया—

बंधुवर्म्मा : देवसेना, तुझे गाने का भी विचित्र रोग है।

देवसेना : रोग तो एक न एक सभी को लगता है। परंतु यह रोग अच्छा है, इससे कितने रोग अच्छे किये जा सकते हैं।

बंधुवर्म्मा : पगली! जा देख, युवराज जा रहे हैं, कुसुमपुर से कोई समाचार आया है।

देवसेना : तब उन्हें जाना आवश्यक होगा। भाभी बुलाती हैं क्या?

बंधुवर्म्मा : हां, उनकी बिदाई करनी होगी। संभवतः सिंहासन पर बैठने का—राज्याभिषेक का प्रकरण होगा।

देवसेना : क्या आपको ठीक नहीं मालूम?

बंधुवर्म्मा : नहीं तो, मुझसे कुछ कहा नहीं। परंतु भौंहों के नीचे एक गहरी छाया है, बात कुछ समझ में नहीं आती।

देवसेना : भइया, तुम लोगों के पास बातें छिपा रखने का एक भारी

रहस्य है। जी खोलकर कह देने में पुरुषों की मर्यादा घटती है। जब तुम्हारा हृदय भीतर से क्रंदन करता है, तब तुम लोग एक मुस्कराहट से टाल देते हो—यह बड़ी प्रवंचना है।

बंधुवर्म्मा : (हंसकर) अच्छा—जा उधर, उपदेश मत दे। (**विजया और देवसेना जाती है**) उदार, वीर-हृदय, देवोपम-सौंदर्य्य, इस आर्य्यावर्त्त का एकमात्र आशा-स्थल इस युवराज का विशाल मस्तक कैसी वक्र-लिपियों से अंकित है ! अंत:करण में तीव्र अभिमान के साथ विराग है। आंखों में एक जीवन-पूर्ण ज्योति है। भविष्य के साथ इसका युद्ध होगा, देखूं कौन विजयी होता है ! परंतु मैं प्रतिज्ञा करता हूं—अब से इस वीर परोपकारी के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है। चलूं—(**जाता है**)

दृश्य : दो

[**मठ में प्रपंचबुद्धि, भटार्क और शर्वनाग**]

प्रपंचबुद्धि : बाहर देख लो, कोई है तो नहीं ?

[**शर्व जाकर लौट आता है**]

शर्वनाग : कोई नहीं, परंतु आप इतना चौंकते क्यों हैं ? मैं कभी यह चिंता नहीं करता कि कौन आया है या कौन आवेगा।

प्रपंचबुद्धि : तुम नहीं जानते।

शर्वनाग : नहीं श्रमण, हाथ में खड्ग लिये प्रत्येक भविष्यत् की मैं प्रतीक्षा करता हूं। जो कुछ होगा—वही निबटा लेगा। इतने डर की, घबराहट की आवश्यकता नहीं। विश्वास करना और देना, इतने ही लघु व्यापार से संसार की सब समस्याएं हल हो जायेंगी।

प्रपंचबुद्धि : प्रत्येक भित्ति के, किवाड़ के कान होते हैं, समझ लेना चाहिए—देख लेना चाहिए।

शर्वनाग : अच्छी बात है, कहिए !

भटार्क : पहले तुम चुप तो रहो (**शर्व चुप रहने की मुद्रा बनाता है**)

प्रपंचबुद्धि : धर्म की रक्षा करने के लिए प्रत्येक उपाय से काम लेना होगा।

शर्वनाग : भिक्षु शिरोमणे ! वह कौन-सा धर्म है, जिसकी हत्या हो रही है ?

प्रपंचबुद्धि : यही—हत्या रोकना, अहिंसा, गौतम का धर्म है। यज्ञ की बलियों को रोकना, करुणा और सहानुभूति की प्रेरणा से कल्याण का प्रचार करना। हां, अवसर ऐसा है कि हम वह काम भी करें जिससे तुम चौंक उठो। परंतु नहीं, वह तो तुम्हें करना ही होगा।

भटार्क : क्या ?

प्रपंचबुद्धि : महादेवी देवकी के कारण राजधानी में विद्रोह की संभावना है।

शर्वनाग : ठीक है, तभी आप चौंकते हैं, और तभी धर्म की रक्षा होगी। हत्या के द्वारा हत्या का निषेध कर लेंगे—क्यों ?

भटार्क : ठहरो शर्व ! परंतु महास्थविर ! क्या उसकी अत्यंत आवश्यकता है ?

प्रपंचबुद्धि : नितांत !

शर्वनाग : बिना इसके काम नहीं चलेगा ? धर्म नहीं प्रचारित होगा ?

प्रपंचबुद्धि : और यह काम शर्व को करना होगा।

शर्वनाग : (**चौंककर**) मुझे ! मैं कदापि नहीं···

भटार्क : शीघ्रता न करो शर्व ! भविष्यत् के सुखों से इसकी तुलना करो।

शर्वनाग : नाप-तौल मैं नहीं जानता, मुझे शत्रु दिखा दो। मैं भूखे भेड़िये की भांति उसका रक्तपान कर लूंगा, चाहे मैं ही क्यों न मारा जाऊं—परंतु निरीह-हत्या—यह मुझसे नहीं···!

भटार्क : मेरी आज्ञा।

शर्वनाग : तुम सैनिक हो, उठाओ तलवार। चलो, दो सहस्र शत्रुओं पर हम दो मनुष्य आक्रमण करें। देखें मरने से कौन भागता है ! कायरता—अबला महादेवी की हत्या ! किस प्रलोभन में तुम पिशाच बन रहे हो ?

भटार्क : सावधान शर्व ! इस चक्र से तुम नहीं निकल सकते। या तो करो या मरो। मैं सज्जनता का स्वांग नहीं ले सकता; मुझे वह नहीं भाता। मुझे कुछ लेना है, वह जैसे मिलेगा—लूंगा ! साथ दोगे तो तुम भी लाभ में रहोगे।

शर्वनाग : नहीं भटार्क ! लाभ के लिए ही मनुष्य सब काम करता, तो पशु बना रहना ही उसके लिए पर्याप्त था, मुझसे यह नहीं होने का।

प्रपंचबुद्धि : ठहरो भटार्क ! मुझे पूछने दो। क्यों शर्व ! तुमने जो अस्वीकार किया है, वह क्यों—पाप समझकर ?

शर्वनाग : अवश्य।

प्रपंचबुद्धि : तुम किसी कर्म को पाप नहीं कह सकते, वह अपने नग्न रूप में पूर्ण है—पवित्र है। संसार ही युद्ध क्षेत्र है, इसमें पराजित होकर शस्त्र अर्पण करके—जीने से क्या लाभ ? तुम युद्ध में हत्या करना धर्म समझते हो ! परंतु दूसरे स्थल पर अधर्म ?

शर्वनाग : हां।

प्रपंचबुद्धि : मार डालना, प्राणी का अंत कर देना, दोनों स्थलों में एक-सा है, केवल देश और काल का भेद है···यही न !

शर्वनाग : हां, ऐसा ही तो।

प्रपंचबुद्धि : तब तुम स्थान और समय की कसौटी पर कर्म को परखते हो, इसी से कर्म के अच्छे और बुरे होने की जांच करते हो।

शर्वनाग : दूसरा उपाय क्या ?

प्रपंचबुद्धि : है क्यों नहीं ! हम कर्म की जांच परिणाम से करते हैं और यही उद्देश्य तुम्हारे स्थान और समय वाली जांच का

होगा।

शर्वनाग : परंतु जिसके भावी परिणाम को अभी तुम देख न सके, उसके बल पर तुम कैसे पूर्व कर्म कर सकते हो ?

प्रपंचबुद्धि : आशा पर—जो सृष्टि का रहस्य है ! आओ, इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण दें। (मदिरा का पात्र भरता है। स्वयं पीकर सबको पिलाता है। बार-बार ऐसा करता है)

प्रपंचबुद्धि : क्यों, कैसी कड़वी थी ?

शर्वनाग : उंह, हृदय तक लकीर खिच गयी।

भटार्क : परंतु अब तो एक आनंद का स्रोत हृदय में बहने लगा है।

शर्वनाग : मैं नाचूं। (उठना चाहता है)

प्रपंचबुद्धि : ठहरो—मेरे साथ।

[उठकर दोनों नाचते हैं। अकस्मात् लड़खड़ाकर प्रपंचबुद्धि गिर पड़ता है। चोट लगती है]

भटार्क : अरे-रे ! (संभालकर उठाता है)

प्रपंचबुद्धि : कुछ चिंता नहीं।

शर्वनाग : बड़ी चोट आयी।

प्रपंचबुद्धि : परंतु परिणाम अच्छा हुआ। तुम लोगों पर विपत्ति आने वाली थी।

भटार्क : वह टल गयी क्या ? (आश्चर्य से देखता है)

शर्वनाग : क्यों सेनापति, टल गयी ?

प्रपंचबुद्धि : उसी विपत्ति का निवारण करने के लिए मैंने यह कष्ट सहा। मैं तुम लोगों के भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान का नियामक, रक्षक और द्रष्टा हूं। जाओ, अब तुम निर्भय हो।

भटार्क : धन्य गुरुदेव !

शर्वनाग : आश्चर्य !

भटार्क : शंका न करो, श्रद्धा करो, श्रद्धा का फल मिलेगा। शर्व, अब भी तुम विश्वास नहीं करते ?

शर्वनाग : करता हूं। जो आज्ञा होगी वही करूंगा।

प्रपंचबुद्धि : अच्छी बात है, चलो—

[सब जाते हैं। धातुसेन का प्रवेश]

धातुसेन : मैं अभी यहीं रह गया, सिंहल नहीं गया। इस रहस्यपूर्ण अभिनय को देखने की इच्छा बलवती हुई। परंतु मुद्गल तो अभी नहीं आया, यहां तो आने को था। **(देखते हुए)** लो—वह आ गया।

मुद्गल : **(समीप से देखते हुए)** क्यों भइया, तुम्हीं धातुसेन हो ?

धातुसेन : (हंसकर) पहचानते नहीं ?

मुद्गल : किसी की धातु पहचानना बड़ा असाधारण कार्य है। तुम किस धातु के हो ?

धातुसेन : भाई, सोना अत्यंत घन होता है, बहुत शीघ्र गरम होता है, और हवा लग जाने से शीतल हो जाता है। मूल्य भी बहुत लगता है। इतने पर भी सिर पर बोझ-सा रहता है। मैं सोना नहीं हूं, क्योंकि उसकी रक्षा के लिए भी एक धातु की आवश्यकता होती है—वह है 'लोहा'।

मुद्गल : तब तुम लोहे के हो ?

धातुसेन : लोहा बड़ा कठोर होता है। कभी-कभी वह लोहे को भी काट डालता है। उहूं, भाई ! मैं तो मिट्टी हूं—मिट्टी जिसमें से सब निकलते हैं। मेरी समझ में तो मेरे शरीर की धातु मिट्टी है, जो किसी के लोभ की सामग्री नहीं, और वास्तव में उसी के लिए सब धातु अस्त्र बनकर चलते हैं, लड़ते हैं, जलते हैं, टूटते हैं, फिर मिट्टी हो जाते हैं। इसलिए मुझे मिट्टी समझो—धूल समझो। परंतु यह तो बताओ, महादेवी की मुक्ति के लिए क्या उपाय सोचा ?

मुद्गल : मुक्ति का उपाय ! अरे ब्राह्मण की मुक्ति भोजन करते हुए मरने में, बनियों की दिवाले की चोट से गिर जाने में और शूद्रों की—हम तीनों की ठोकरों से मुक्ति-ही-मुक्ति है। महादेवी तो क्षत्राणी हैं, संभवतः उनकी मुक्ति शस्त्र से होगी।

धातुसेन : तुमने ठीक सोचा, आज अर्द्धरात्रि में—कारागार में।

मुद्गल : कुछ चिंता नहीं। चलो, युवराज आ गये हैं।

धातुसेन : मैं भी प्रस्तुत रहूंगा।

[दोनों का प्रस्थान]

दृश्य : तीन

[देवकी के राजमंदिर का बाहरी भाग। मदिरोन्मत्त शर्वनाग का प्रवेश]

शर्वनाग : कादंब, कामिनी, कंचन-वर्णमाला के पहले अक्षर। करना होगा। इन्हीं के लिए कर्म करना होगा। मनुष्य को यदि इन कवर्गों की चाट नहीं तो कर्म क्या करें? 'कर्म' में एक 'कु' और जोड़ दें—तो अच्छी वर्णमैत्री होगी! (लड़खड़ाते हुए) कादंब! ओह प्यास! (प्याले में मदिरा उड़ेलता है) लाल—यह क्या रक्त? आह! कैसी भीषण कमनीयता है! लाल मदिरा लाल नेत्रों से लाल-लाल रक्त देखना चाहती है। किसका? एक प्राणी का, जिसके कोमल मांस में रक्त मिला हो। अरे-रे, नहीं, दुर्बल नारी—उंह, यह तेरी दुर्बलता है। चल, अपना काम देख, सामने सोने का संसार खड़ा है!

रामा : (प्रवेश करते) पामर सोने की लंका राख हो गयी।

शर्वनाग : उसमें मदिरा न रही होगी, सुंदरी!

रामा : मदिरा का समुद्र उफन रहा था—मदिरा-समुद्र के तट पर ही तो लंका बसी थी!

शर्वनाग : तब उसमें तुम जैसी कोई कामिनी न होगी। तुम कौन हो—स्वर्ग की अप्सरा या स्वप्न की चुड़ैल?

रामा : स्त्री को देखते ही ढिलमिल हुए, आंखें फाड़कर देखते हैं—जैसे खा जायेंगे। मैं कोई हूं!

शर्वनाग : सुंदरी! यह तुम्हारा ही दोष है। तुम लोगों का वेश-विन्यास आंखों की लुका-चोरी, अंगों का सिमटना, चलने

में एक क्रीड़ा, एक कौतूहल, पुकार कर—टोंककर कहते हैं —'हमें देखो'—क्या करें हम, देखते ही बनता है !

रामा : दुर्वृत्त मद्यप ! तू अपनी स्त्री को नहीं पहचानता है ? पर-स्त्री समझकर उसे छेड़ता है !

शर्वनाग : (संभलकर) अयं ! अरे-ओह ! मेरी रामा तुम हो ?

रामा : हां, मैं हूं।

शर्वनाग : (हंसकर) तभी तो, मैं तुमको जानकर ही बोला। नहीं, भला मैं किसी पर स्त्री से—(**जीभ निकालकर कान पकड़ता है**)

रामा : अच्छा, यह तो बताओ, कादंब पीना कहां से सीखा ? और यह क्या बकते थे ?

शर्वनाग : अरे प्रिये ! तुमसे न कहूंगा तो किससे कहूंगा, सुनो—

रामा : हां-हां, कहो।

शर्वनाग : (**निकट जाकर**) तुमको रानी बनाऊंगा।

रामा : (**चौंककर**) क्या ?

शर्वनाग : (**और निकट जाकर**) तुम्हें सोने से लाद दूंगा।

रामा : किस तरह ?

शर्वनाग : वह भी बतला दूं ? तुम नित्य कहती हो कि 'तू निकम्मा है, अपदार्थ है, कुछ नहीं है'—तो मैं कुछ कर दिखाना चाहता हूं।

रामा : अरे कहो भी !

शर्वनाग : वह पीछे बताऊंगा। आज तुम महादेवी के बंदीगृह में न जाना, समझा न ?

रामा : (**उत्सुकता से**) क्यों ?

शर्वनाग : सोना लेना हो, मान लेना हो, तो ऐसा ही करना, क्योंकि आज वहां जो कांड होगा, उसे तुम देख न सकोगी। तुम अभी इसी स्थान से लौट जाओ।

रामा : (**डरती हुई**) क्या करोगे तुम ? पिशाच की दुष्कामना से भी भयानक दिखायी देते हो तुम—क्या करोगे—बोलो !

शर्वनाग : (मद्यपान करता हुआ) हत्या—थोड़ी-सी मदिरा दे—शीघ्र दे ! नहीं तो छुरा भोंक दूंगा। ओह, मेरा नशा उखड़ा जा रहा है !

रामा : आज तुम्हें क्या हो गया है—मेरे स्वामी !—मेरे···

शर्वनाग : अभी मैं तेरा कुछ नहीं हूं, सोना मिलने से सब हो जाऊंगा—इसी का उद्योग कर रहा हूं। (**इधर-उधर देखकर बगल से सुराही निकालकर पीता है**)

रामा : ओह, मैं समझ गयी ! तूने बेच दिया—पिशाच के हाथ तूने अपने को बेच दिया। अहा ! ऐसा सुंदर, ऐसा मनुष्योचित मन, कौड़ी के मोल बेच दिया। लोभवश मनुष्य से पशु हो गया। रक्त पिपासु ! क्रूरकर्मा मनुष्य ! कृतघ्नता की कीच का कीड़ा ! नरक की दुर्गंध ! तेरी इच्छा कदापि पूर्ण न होने दूंगी। मेरे रक्त के प्रत्येक परमाणु में जिसके कृपा की शक्ति है, जिसके स्नेह का आकर्षण है, उसके प्रतिकूल आचरण ! वह मेरा पति तो क्या, स्वयं ईश्वर भी हो—नहीं करने पावेगा।

शर्वनाग : क्या तू—ओ—तू···

रामा : हां-हां, मैं न होने दूंगी। ले, मुझे ही मार ले हत्यारे ! मद्यप ! तेरी रक्त-पिपासा शांत हो जाये। परंतु महादेवी पर हाथ लगाया तो मैं पिशाचिनी-सी प्रलय की काली आंधी बन कुचक्रियों के जीवन की काली राख अपने शरीर में लपेटकर तांडव नृत्य करूंगी। मान जा—इसी में तेरा भला है।

शर्वनाग : अच्छा, तू इसमें विघ्न डालेगी। तू तो क्या, विघ्नों का पहाड़ भी होगा तो ठोकरों से हटा दिया जायेगा। मुझे सोना और सम्मान मिलने में कौन बाधा देगा ?

रामा : मैं दूंगी। सोना मैं नहीं चाहती, मान मैं नहीं चाहती, मुझे अपना स्वामी अपने उसी मनुष्य रूप में चाहिए। (**पैर पड़ती है**) स्वामी ! हिंस्र-पशु भी जिनसे पाले जाते हैं, उन पर चोट नहीं करते, अरे तुम तो मस्तिष्क रखने वाले मनुष्य हो !

शर्वनाग : (ठुकरा देता है) जा, तू हट जा, नहीं तो मुझे एक के स्थान पर दो हत्याएं करनी पड़ेंगी ! मैं प्रतिश्रुत हूं, वचन दे चुका हूं !

रामा : (प्रार्थना करती हुई) तुम्हारा यह झूठा सत्य है ! ऐसी प्रतिज्ञाओं का पालन सत्य नहीं कहा जा सकता, ऐसे धोखे का सत्य लेकर ही संसार में पाप और असत्य बढ़ते हैं। स्वामी ! मान जाओ।

शर्वनाग : ओह, विलंब होता है, तो पहले तू ही ले—(**पकड़ना और मारना चाहता है—रामा शीघ्रता से हाथ छुड़ाकर भाग जाती है**)

[**अनंतदेवी, प्रपंचबुद्धि और भटार्क का प्रवेश**]

भटार्क : शर्व !

शर्वनाग : जय हो ! मैं प्रस्तुत हूं, परंतु मेरी स्त्री इसमें बाधा डालना चाहती है। मैं पहले उसी को पकड़ना चाहता था, परंतु वह भगी।

अनंतदेवी : सौगंध है ! यदि तू विश्वासघात करेगा तो कुत्तों से नुचवा दिया जायेगा।

प्रपंचबुद्धि : शर्व ! तुम तो स्त्री नहीं हो।

शर्वनाग : नहीं, मैं प्रतिश्रुत हूं परंतु···

भटार्क : तुम्हारी पद-वृद्धि और पुरस्कार का यह प्रमाण-पत्र प्रस्तुत है···(**दिखाता है**) काम हो जाने पर—

शर्वनाग : तब शीघ्र चलिए, दुष्टा रामा भी पहुंच ही गयी होगी। (**सब जाते हैं**)

दृश्य : चार

[**बंदीगृह में देवकी और रामा**]

रामा : महादेवी ! मैं लज्जा के गर्त्त में डूब रही हूं। मुझे कृतज्ञता और सेवा धर्म धिक्कार दे रहे हैं मेरा स्वामी···

देवकी : शांत हो रामा ! बुरे दिन कहते किसे हैं ? जब स्वजन लोग अपने शील-शिष्टाचार का पालन करें—आत्मसमर्पण, सहानुभूति, सत्पथ का अवलंबन करें—तो दुर्दिन का साहस नहीं कि उस कुटुंब की ओर आंख उठाकर देखे। इस कठोर समय में भगवान की स्निग्ध करुणा का शीतल ध्यान कर।

रामा : महादेवी ! परंतु आपकी क्या दशा होगी ?

देवकी : मेरी दशा ? मेरी लाज का बोझ उसी पर है जिसने वचन दिया है, जिस विपद-भंजन की असीम दया—अपना स्निग्ध अंचल—सब दुखियों के आंसू पोंछने के लिए सदैव हाथ में लिये रहती है।

रामा : परंतु उसने पिशाच का प्रतिनिधित्व ग्रहण किया है, और···

देवकी : न घबरा रामा ! एक पिशाच नहीं, नरक के असंख्य दुर्दान्त प्रेतों और क्रूर पिशाचों का त्रास—उनकी ज्वाला—दयामय की कृपादृष्टि के एक बिंदु से शांत होती है। **(नेपथ्य से गान)**

पालना बनें प्रलय की लहरें !
शीतल हो ज्वाला की आंधी, करुणा के घन छहरें।
दया दुलार करे, पल भर भी—विपदा पास न ठहरे।
प्रभु का हो विश्वास सत्य, तो सुख का केतन फहरे।

[भटार्क आदि के साथ अनंतदेवी का प्रवेश]

अनंतदेवी : परंतु व्यंग-विष की ज्वाला रक्तधारा से भी नहीं बुझती देवकी ! तुम मरने के लिए प्रस्तुत हो जाओ।

देवकी : क्या तुम मेरी हत्या करोगी ?

प्रपंचबुद्धि : हां ! सद्धर्म का विरोधी, हिमालय की निर्जन ऊंची चोटी तथा अगाध समुद्र के अंतस्तल में भी नहीं बचने पावेगा, और उस महाबलिदान का आरंभ होगा तुम्हीं से। शर्व ! आगे बढ़ो—

रामा : (सम्मुख आकर) एक शर्व नहीं, तुम्हारे जैसे सैकड़ों पिशाच भी यदि जुटकर जावें तो भी आज महादेवी का अंगस्पर्श कोई न कर सकेगा। (छुरी निकालती है)

शर्वनाग : मैं तेरा स्वामी हूं रामा ! क्या तू मेरी हत्या करेगी ?

रामा : ओह ! बड़ी धर्मबुद्धि जगी है पिशाच को, और यह महादेवी तेरी कौन हैं ?

शर्वनाग : फिर मैं तेरा···

रामा : स्वामी ! नहीं-नहीं, तू मेरे स्वामी का नरकवासी प्रेत है। तेरी हत्या कैसी—तू तो कभी का मर चुका है।

देवकी : शांत हो रामा ! देवकी अपने रक्त के बदले और किसी का रक्त नहीं गिराना चाहती। चल रक्त के प्यासे कुत्ते ! चल, अपना काम कर। (शर्व आगे बढ़ता है)

अनंतदेवी : क्यों देवकी ! राजसिंहासन लेने की स्पर्धा क्या हुई ?

देवकी : परमात्मा की कृपा है कि मैं स्वामी के रक्त से कलुषित सिंहासन पर न बैठ सकी।

भटार्क : भगवान का स्मरण कर लो।

देवकी : मेरे अंतर की करुण-कामना एक थी—स्कंद को देख लूं। परंतु तुम लोगों से—हत्यारों से—मैं उसके लिए भी प्रार्थना न करूंगी। प्रार्थना उसी विश्वंभर के श्रीचरणों में है, जो अपनी अनंत दया का अभेद्य कवच पहनाकर मेरे स्कंद को सदैव सुरक्षित रखेगा।

शर्वनाग : अच्छा तो (खड्ग उठाता है। रामा सामने आकर खड़ी हो जाती है) हट जा अभागिनी !

रामा : मूर्ख ! अभागा कौन है—जो संसार के सबसे पवित्र धर्म कृतज्ञता को भूल जाता है और भूल जाता है सबके ऊपर एक अटल अदृश्य का नियामक सर्वशक्तिमान् है—वह या मैं ?

शर्वनाग : कहता हूं कि अपनी लोथ मुझे पैरों से न ठुकराने दे !

रामा : टुकड़े का लोभी ! तू सती का अपमान करे, तेरी यह

स्पर्धा ? तू कीड़ों से भी तुच्छ है। पहले मैं मरूगी, तब महादेवी।

अनंतदेवी : (क्रोध से) तो पहले इसी का अंत करो शर्व ! शीघ्रता करो।

शर्वनाग : अच्छा, तो वही होगा (प्रहार करने पर उद्यत होता है। किवाड़ तोड़कर स्कंद भीतर घुस आता है। पीछे मुद्गल और धातुसेन। आते ही शर्वनाग की गर्दन दबाकर तलवार छीन लेता है)

स्कंदगुप्त : (भटार्क से) क्यों रे नीच पशु ! तेरी क्या इच्छा है ?

भटार्क : राजकुमार ! वीर के प्रति उचित व्यवहार होना चाहिए।

स्कंदगुप्त : तू वीर है ? अर्द्धरात्रि में निस्सहाय अबला महादेवी की हत्या के उद्देश्य से घुसने वाला चोर—तुझे भी वीरता का अभिमान है ? तो द्वंद्वयुद्ध के लिए आमंत्रित करता हूं—बचा अपने को ! (भटार्क दो-एक हाथ चलाकर घायल होकर गिरता है)

स्कंदगुप्त : मेरी सौतेली मां, तू···!

अनंतदेवी : स्कंद ! फिर भी मैं तुम्हारे पिता की पत्नी हूं (घुटनों के बल बैठकर हाथ जोड़ती है)

स्कंदगुप्त : अनंतदेवी ! कुसुमपुर में पुरगुप्त को लेकर चुपचाप बैठी रहो। जाओ—मैं स्त्री पर हाथ नहीं उठाता, परंतु सावधान ! विद्रोह की इच्छा न करना, नहीं तो क्षमा असंभव है। (देवकी के चरणों पर झुकते हुए) अहा ! मेरी मां !

देवकी : (आलिंगन करके) आओ मेरे वत्स !

दृश्य : पांच

[अवंती-दुर्ग का एक भाग—बंधुवर्म्मा और जयमाला का प्रवेश]

बंधुवर्म्मा : वत्स भीम ! बोलो, तुम्हारी क्या सम्मति है ?

भीमवर्म्मा : तात ! आपकी इच्छा—मैं तो आपका अनुचर हूं।

जयमाला : परंतु इसकी आवश्यकता ही क्या है ? उनका इतना बड़ा साम्राज्य है, तब भी मालव के बिना काम नहीं चलेगा क्या ?

बंधुवर्म्मा : देवि ! केवल स्वार्थ देखने का अवसर नहीं है। यह ठीक है कि शकों के पतन-काल में पुष्करणाधिपति स्वर्गीय महाराज सिंहवर्म्मा ने एक स्वतंत्र राज्य स्थापित किया और उनके वंशधर ही उस राज्य के स्वत्वाधिकारी हैं, परंतु उस राज्य का ध्वंस हो चुका था, म्लेच्छों की सम्मिलित वाहिनी उसे धूल में मिला चुकी थी, उस समय तुम लोगों को केवल आत्महत्या का ही अवलंब शेष था—तब इन्हीं स्कंदगुप्त ने रक्षा की थी, यह राज्य अब न्याय से उन्हीं का है।

भीमवर्म्मा : परंतु क्या वे मांगते हैं ?

बंधुवर्म्मा : नहीं भीम ! युवराज स्कंद ऐसे क्षुद्र हृदय नहीं, उन्होंने पुरगुप्त को—उस जघन्य अपराध पर भी, मगध का शासक बना दिया है। वह तो सिंहासन भी नहीं लेना चाहते।

जयमाला : परंतु तुम्हारा मालव उन्हें प्रिय है !

बंधुवर्म्मा : देवि, तुम नहीं देखती हो कि आर्य्यावर्त्त पर विपत्ति की प्रलय-मेघमाला घिर रही है, आर्य्य-साम्राज्य के अंतर्विरोध और दुर्बलता को आक्रमणकारी भली भांति जान गये हैं। शीघ्र ही देश-व्यापी युद्ध की संभावना है। इसलिए यह मेरी ही सम्मति है कि साम्राज्य की सुव्यवस्था के लिए, आर्य्य राष्ट्र के त्राण के लिए युवराज उज्जयिनी में रहें—इसी

में सबका कल्याण है। आर्य्यावर्त्त का जीवन केवल स्कंदगुप्त के कल्याण से है। और उज्जयिनी में साम्राज्याभिषेक का अनुष्ठान होगा—सम्राट होंगे स्कंदगुप्त।

जयमाला : आर्य्यपुत्र ! अपना पैतृक राज्य इस प्रकार दूसरों के पदतल में निःसंकोच अर्पित करते हुए हृदय कांपता नहीं है ? क्या फिर उन्हीं की सेवा करते हुए दास के समान जीवन व्यतीत करना होगा ?

बंधुवर्म्मा : (**सिर झुकाकर सोचते हुए**) तुम कृतघ्नता का समर्थन करोगी—वैभव और ऐश्वर्य्य के लिए ऐसा कदर्य प्रस्ताव करोगी···इसका मुझे स्वप्न में भी ध्यान न था।

जयमाला : यदि होता ?

बंधुवर्म्मा : तब मैं इस कुटुंब की कमनीय कल्पना को दूर से ही नमस्कार करता और आजीवन अविवाहित रहता। क्षत्रिए ! जो केवल खड्ग का अवलंबन रखने वाले सैनिक हैं, उन्हें विलास की सामग्रियों का लोभ नहीं रहता। सिंहासन पर, मुलायम गद्दों पर लेटने के लिए या अकर्मण्यता और शरीर-पोषण के लिए क्षत्रियों ने लोहे को अपना आभूषण नहीं बनाया है।

भीमवर्म्मा : भैया—तब ?

बंधुवर्म्मा : भीम ! क्षत्रियों का कर्तव्य है—आर्त्त-त्राण-परायण होना, विपद् का हंसते हुए आलिंगन करना, विभीषिकाओं की मुसकराकर अवहेलना करना, और···और विपन्नों के लिए, अपने धर्म के लिए—देश के लिए, प्राण देना। (**देवसेना का सहसा प्रवेश**)

देवसेना : भाभी ! सर्वात्मा के स्वर में आत्मसमर्पण के प्रत्येक ताल में अपने विशिष्ट व्यक्तिवाद का विस्मृत हो जाना—एक मनोहर संगीत है ! क्षुद्र स्वार्थ—भाभी जाने दो, भैया को देखो—कैसा उदार, कैसा महान् और कितना पवित्र !

जयमाला : देवसेना ! समष्टि में भी व्यष्टि रहती है। व्यक्तियों से ही

जाति बनती है। विश्व-प्रेम, सर्वभूत-हित-कामना परम धर्म है, परंतु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि अपने पर प्रेम न हो, इस अपने ने क्या अन्याय किया है जो इसका बहिष्कार हो ?

बंधुवर्म्मा : ठहरो जयमाला ! इसी क्षुद्र ममत्व ने हमको दुष्ट भावना की ओर प्रेरित किया है, इसी से हम स्वार्थ का समर्थन करते हैं। इसे छोड़ दो जयमाला ! इसके वशीभूत होकर हम अत्यंत पवित्र वस्तुओं से बहुत दूर हो जाते हैं। बलिदान करने के योग्य वह नहीं—जिसने अपना आपा नहीं खोया।

भीमवर्म्मा : भाभी ! अब तर्क न करो। समस्त देश के कल्याण के लिए एक कुटंब की भी नहीं, उसके क्षुद्र स्वार्थों की बलि होने दो भाभी ! हृदय नाच उठा है, जाने दो इस नीच प्रभाव को। देखो—हमारा आर्य्यावर्त्त विपन्न है, यदि हम मर-मिटकर भी इसकी कुछ सेवा कर सकें···

जयमाला : जब सभी लोगों की ऐसी इच्छा है, तब मुझे क्या !

बंधुवर्म्मा : तब मालवेश्वरी की जय हो, तुम्हीं इस सिंहासन पर बैठो। बंधुवर्म्मा तो आज से आर्य्य-साम्राज्य सेना का एक साधारण पदातिक सैनिक है। तुम्हें तुम्हारा ऐश्वर्य सुखद हो। **(चलने को उद्यत होता है)**

भीमवर्म्मा : ठहरो भैया, हम भी चलते हैं।

चक्रपालित : **(प्रवेश करके)** धन्य वीर ! तुमने क्षत्रिय का सिर ऊंचा किया है। बंधुवर्म्मा ! आज तुम महान् हो, हम तुम्हारा अभिनंदन करते हैं। रण में, वन में, विपत्ति में, आनंद में, हम सब सहभागी होंगे। धन्य तुम्हारी जननी—जिसने आर्य्य-राष्ट्र का ऐसा शूर सैनिक उत्पन्न किया।

बंधुवर्म्मा : स्वागत चक्र ! मालवेश्वरी की जय हो ! अब हम सब सैनिक जाते हैं।

चक्रपालित : ठहरो बंधु ! एक सुखद समाचार सुन लो। पिता जी का

अभी-अभी पत्र आया है कि सौराष्ट्र के शकों को निर्मूल करके परम भट्टारक मालव के लिए प्रस्थान कर चुके हैं।

बंधुवर्म्मा : संभवतः महाराजपुत्र उत्तरापथ की सीमा की रक्षा करेंगे।

चक्रपालित : हां बंधु !

देवसेना : चलो भाई, मैं भी तुम लोगों की सेवा करूंगी।

जयमाला : (**घुटने टेककर**) मालवेश्वर की जय हो ! प्रजा ने अपराध किया है, दंड दीजिए। पतिदेव ! आपकी दासी क्षमा मांगती है। मेरी आंखें खुल गयीं। आज हमने जो राज्य पाया है—वह विश्व-साम्राज्य से भी ऊंचा है—महान् है। मेरे स्वामी और ऐसे महान्—धन्य हूं मैं ! (**बंधुवर्म्मा सिर पर हाथ रखता है**)

दृश्य : छह

[**पथ में भटार्क और उसकी माता**]

कमला : तू मेरा पुत्र है कि नहीं ?

भटार्क : मां, संसार में इतना ही तो स्थिर सत्य है, और मुझे इतने पर ही विश्वास है। संसार के समस्त लांछनों का मैं तिरस्कार करता हूं, किसलिए ? केवल इसीलिए कि तू मेरी मां है—और वह जीवित है !

कमला : और मुझे इसका दुःख है कि मैं मर क्यों न गयी, मैं क्यों अपने कलंक-पूर्ण जीवन को पालती रही। भटार्क ! तेरी मां को एक ही आशा थी कि पुत्र देश का सेवक होगा—म्लेच्छों से पद-दलित भारतभूमि का उद्धार करके मेरा कलंक धो डालेगा, मेरा सिर ऊंचा होगा। परंतु हाय !

भटार्क : मां ! तो तुम्हारी आशाओं को मैंने विफल किया ? क्या मेरी खड्गलता आग के फूल नहीं बरसाती ? क्या मेरे रण-नाद वज्र-ध्वनि के समान शत्रु के कलेजे नहीं कंपा देते ? क्या तेरे भटार्क का लोहा भारत के क्षत्रिय नहीं मानते ?

कमला : मानते हैं—इसी से तो और भी ग्लानि है।

भटार्क : घर लौट चलो मां ! ग्लानि क्यों ?

कमला : इसलिए कि तू देशद्रोही है। तू राजकुल की शांति का प्रलय-मेघ बन गया, और तू साम्राज्य के कुचक्रियों में से एक है। ओह ! नीच ! कृतघ्न ! कमला कलंकिनी हो सकती है, परंतु यह नीचता, कृतघ्नता उसके रक्त में नहीं। (**रोती है**)

[**विजया का प्रवेश**]

विजया : माता ! तुम क्यों रो रही हो ? (**भटार्क की ओर देखकर**) और यह कौन ? क्यों जी—तुमने इस वृद्धा का क्यों अपमान किया है ?

कमला : देवि ! यह मेरा पुत्र था।

विजया : था ! क्या अब नहीं ?

कमला : नहीं, इसने महाबलाधिकृत होने के लालच में अपने हाथ-पैर पाप की शृंखला में जकड़ दिये; अब फिर भी उज्जयिनी में आया है—किसी षड्यंत्र के लिए।

विजया : कौन—तुम महाबलाधिकृत भटार्क हो ? और तुम्हारी माता की यह दीन दशा !

कमला : ना बेटी ! इसे कुछ मत कहो, मैं स्वयं इसका ऐश्वर्य त्याग-कर चली आयी हूं। महाकाल के मंदिर में भिक्षा ग्रहण कर इसी उज्जयिनी में पड़ी रहूंगी, परंतु इससे···

भटार्क : मां ! अब और लज्जित न करो। चलो—घर चलो।

विजया : (**स्वगत**) अहा ! कैसी वीरत्व-व्यंजक मनोहर मूर्त्ति है ! और गुप्तसाम्राज्य का महाबलाधिकृत !

कमला : इस पिशाच ने छलने के लिए रूप बदला है। सम्राट् का अभिषेक होने वाला है, यह उसी में कोई प्रपंच रचने आया है। मेरी कोई न सुनेगा, नहीं तो मैं स्वयं इसे दंडनायक को समर्पित कर देती।

[**सहसा मातृगुप्त, मुद्गल और गोविंदगुप्त का**

प्रवेश]

मुद्गल : कौन ! भटार्क ?

मातृगुप्त : अरे यहां भी !

[**भटार्क तलवार निकालता है। गोविंदगुप्त उसके हाथ से तलवार छीन लेते हैं।**]

मुद्गल : महाराजपुत्र गोविंदगुप्त की जय !

गोविंदगुप्त : कृतघ्न ! वीरता उन्माद नहीं है—आंधी नहीं है, जो उचित-अनुचित का विचार न करती हो। केवल शस्त्रबल पर टिकी हुई वीरता बिना पैर की होती है। उसकी दृढ़ भित्ति है—न्याय ! तू उसे कुचलने पर सिर ऊंचा उठाकर नहीं रह सकता, मातृगुप्त—बंदी करो इसे। (**कमला के प्रति**) और तुम कौन हो भद्रे ?

कमला : मैं इस कृतघ्न की माता हूं। अच्छा हुआ, मैं तो स्वयं यही विचार करती थी।

गोविंदगुप्त : यह तो मैंने अपने कानों से सुना। धन्य हो देवि ! तुम जैसी जननियां जब तक उत्पन्न होंगी, तब तक आर्य्य-राष्ट्र का विनाश असंभव है—और वह युवती कौन है ?

कमला : मुझे सहायता देती थी, कोई अभिजात कुल की कन्या है— इसका कोई अपराध नहीं।

मुद्गल : अरे राम ! यह भी अवश्य कोई भयानक स्त्री होगी !

मातृगुप्त : परंतु यह अपना कोई परिचय भी नहीं दे रही है !

विजया : मैं अपराधिनी हूं; मुझे भी बंदी करो।

भटार्क : यह क्यों, इस युवती से तो मैं परिचित भी नहीं हूं—इसका अपराध नहीं।

विजया : (**स्वगत**) ओह ! इस आनंद महोत्सव में मुझे कौन पूछता है, मैं मालव में अब किस काम की हूं ? जिसके भाई ने समस्त राज्य अर्पण कर दिया है—वह देवसेना और कहां मैं ! (**भटार्क की ओर देखती हुई**) तब तो मेरा यही···

गोविंदगुप्त : भद्रे ! तुम अपना परिचय दो।

विजया : मैं अपराधिनी हूं।

मातृगुप्त : परंतु तुम्हारा और भी कोई परिचय है ?

विजया : यही कि बंदी होने की अभिलाषिणी हूं।

कमला : वत्से ! तुम अकारण क्यों दुःख उठाती हो ?

विजया : मेरी इच्छा—मुझे बंदी कीजिए ! मैं अपना परिचय न्यायाधिकरण में दूंगी—यहां कुछ न कहूंगी। यहां मेरा अपमान किया जायेगा तो आर्य्यराष्ट्र के नाम पर मैं तुम लोगों पर अभियोग लगाऊंगी।

गोविंदगुप्त : क्यों भटार्क ! यदि तुम्हीं कुछ कहते···

भटार्क : मैं कुछ नहीं जानता कि यह कौन है। मुझे भी विलंब हो रहा है, शीघ्र न्यायाधिकरण में ले चलिए।

मुद्गल : और वृद्धा कमला ?

गोविंदगुप्त : यह बंदी नहीं है, परंतु एक बार स्कंद के समक्ष इसे चलना होगा।

मातृगुप्त : तो फिर सब चलें—अभिषेक का समय भी समीप है।

[सब जाते हैं]

दृश्य : सात

[राजसभा। बंधुवर्म्मा, भीमवर्मा, मातृगुप्त तथा मुद्गल के साथ एक ओर से स्कंदगुप्त का और दूसरी ओर से गोविंदगुप्त का प्रवेश]

स्कंदगुप्त : **(बीच में खड़े होकर)** तात ! कहां थे ? इस बालक पर अकारण क्रोध करके कहां छिपे थे ? **(चरण-वंदना करता है)**

गोविंदगुप्त : उठो वत्स ! आर्य्य चंद्रगुप्त की अनुपम प्रतिकृति ! गुरुकुल तिलक ! भाई से मैं रूठ गया था, परंतु तुमसे कदापि नहीं, तुम मेरी आत्मा हो वत्स ! **(आलिंगन करता है)**

[अनुचरियों सहित देवकी का प्रवेश। स्कंद देवकी की चरण-वंदना करता है]

देवकी : वत्स ! चिरविजयी हो ! देवता तुम्हारे रक्षक हों महाराजपुत्र ! इसे आशीर्वाद दीजिए कि गुप्तकुल के गुरुजनों के प्रति यह विनयशील रहे।

गोविंदगुप्त : महादेवी ! तुम्हारी कोख से पैदा हुआ यह रत्न—यह गुप्तकुल के अभिमान का चिह्न—सदैव यशोमंडित रहेगा !

स्कंदगुप्त : (**बंधुवर्म्मा से**) मित्र मालवेश ! बढ़ो, सिंहासन पर बैठो ! हम तुम्हारा अभिनंदन करें।

[**जयमाला और देवसेना का प्रवेश**]

जयमाला : देव ! यह सिंहासन आपका है, मालवेश का इस पर कोई अधिकार नहीं। आर्य्यावर्त्त के सम्राट् के अतिरिक्त अब दूसरा कोई मालव के सिंहासन पर नहीं बैठ सकता।

[**'मालव की जय हो' की तुमुल ध्वनि**]

बधुवर्म्मा : (**हंसकर**) सम्राट् ! अब तो मालवेश्वरी ने स्वयं सिंहासन त्याग दिया है, और मैं उन्हें दे चुका था, इसलिए सिंहासन ग्रहण करने में अब विलंब न कीजिए।

गोविंदगुप्त : वत्स ! इन आर्य्य-जाति के रत्नों की कौन-सी प्रशंसा करूं। इनका स्वार्थ-त्याग दधीचि के दान से कम नहीं। बढ़ो वत्स ! सिंहासन पर बैठो, मैं तुम्हारा तिलक करूं।

स्कंदगुप्त : तात ! विपत्तियों के बादल घिर रहे हैं, अंतर्विद्रोह की ज्वाला प्रज्वलित है, ऐसे समय में केवल एक सैनिक बन सकूंगा, सम्राट् नहीं।

गोविंदगुप्त : आज, आर्य्य-जाति का प्रत्येक बच्चा सैनिक है—सैनिक छोड़कर और कुछ नहीं। आर्य्य-कन्याएं अपहरण की जाती हैं, हूणों के विकट तांडव से पवित्र भूमि पादाक्रांत है, कहीं देवता की पूजा नहीं होती—सीमा की बर्बर जातियों की राक्षसी वृत्ति का प्रचंड पाखंड फैला है। ऐसे समय आर्य्य-

जाति तुम्हें पुकारती है—सम्राट् होने के लिए नहीं, उद्धार-युद्ध में सेनानी बनने के लिए—सम्राट्।

[गोविंद गुप्त और बंधुवर्म्मा हाथ पकड़कर स्कंदगुप्त को सिंहासन पर बैठाते हैं। भीमवर्म्मा छत्र लेकर बैठता है। देवसेना चमर करती है। गरुड़ध्वज लेकर बंधुवर्म्मा खड़े होते हैं। देवकी राजतिलक करती है। गोविंदगुप्त खड्ग का उपहार देते हैं। चक्रपालित गरुड़ांकित राजदंड देता है]

गोविंदगुप्त : परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री स्कंदगुप्त की जय हो!

सब : **(समवेत स्वर से)** जय हो!

बंधुवर्म्मा : आर्य्य-साम्राज्य के महाबलाधिकृत महाराजपुत्र गोविंदगुप्त की जय हो! **(सब वैसा ही कहते हैं)**

स्कंदगुप्त : आर्य्य! इस गुरुभार उत्तरदायित्व का सत्य से पालन कर सकूं, और आर्य्यराष्ट्र की रक्षा में सर्वस्व अर्पण कर सकूं, आप लोग इसके लिए भगवान से प्रार्थना कीजिए और आशीर्वाद दीजिए कि स्कंदगुप्त अपने कर्त्तव्य से—स्वदेश-सेवा से कभी विचलित न हो।

गोविंदगुप्त : सम्राट्! परमात्मा की असीम अनुकंपा से आपका उद्देश्य सफल हो। आज गोविंद ने अपना कर्त्तव्य-पालन किया। वत्स बंधुवर्म्मा! तुम इस नवीन आर्य्यराष्ट्र के संस्थापक हो। तुम्हारे इस आत्मत्याग की गौरवगाथा आर्य्य-जाति का मुख उज्ज्वल करेगी। वीर! इस वृद्ध में साम्राज्य के महाबलाधिकृत होने की क्षमता नहीं, तुम्हीं इसके उपयुक्त हो।

बंधुवर्म्मा : आर्य्य! अभी आपके चरणों में बैठकर यह बालक स्वदेश-सेवा की शिक्षा ग्रहण करेगा। मालव का राजकुटुंब—एक-एक बच्चा—आर्य्यजाति के कल्याण के लिए जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है। आप जो आज्ञा देंगे, वही

होगा। (**धन्य-धन्य का घोष**)

स्कंदगुप्त : तात ! पर्णदत्त इस समय नहीं !

चक्रपालित : सम्राट् ! वह सौराष्ट्र की चंचल राष्ट्रनीति की देख-रेख में लगे हैं।

[**कुमारदास का प्रवेश**]

मातृगुप्त : सिंहल के युवराज कुमार धातुसेन की जय हो !

[**सब आश्चर्य से देखते हैं**]

स्कंदगुप्त : कुमारदास—सिंहल के युवराज धातुसेन !

मातृगुप्त : हां, महाराजाधिराज !

स्कंदगुप्त : अद्भुत ! वीर युवराज ! तुम्हारा स्नेह क्या कभी भूल सकता हूं ? आओ, स्वागत !

[**सब मंचों पर बैठते हैं**]

गोविंदगुप्त : बंदियों को ले आओ।

[**सैनिकों के साथ भटार्क, शर्वनाग, विजया तथा कमला का प्रवेश**]

स्कंदगुप्त : क्यों शर्व ! तुम क्या चाहते हो ?

शर्वनाग : सम्राट् ! वध की आज्ञा दीजिए। मेरे जैसे नीच के लिए और कोई दंड नहीं है।

स्कंदगुप्त : नहीं, मैं तुम्हें इससे भी कड़ा दंड दूंगा, जो वध से उग्र होगा।

शर्वनाग : वही हो सम्राट् ! जितनी यंत्रणा से यह पापी प्राण निकाल जाय, उतना ही उत्तम होगा।

स्कंदगुप्त : परंतु मैं तुम्हें मुक्त करता हूं, क्षमा करता हूं। तुम्हारे अपराध ही तुम्हारे मर्मस्थल पर सैकड़ों बिच्छुओं के डंक की चोट करेंगे। आजीवन तुम उसी यंत्रणा को भोगो, क्योंकि रामासाध्वी रामा को—मैं अपनी आज्ञा से विधवा न बनाऊंगा ! सती रामा ! तेरे पुण्य से तेरा पति आज मृत्यु से बचा !

[**रामा सम्राट् का पैर पकड़ती है**]

शर्वनाग : दुहाई सम्राट् की—मेरे वध की आज्ञा दीजिए, नहीं तो आत्महत्या करूंगा। ऐसे देवता के प्रति मैंने दुराचरण किया, ओह ! **(छुरी निकालना चाहता है)**

स्कंदगुप्त : ठहरो शर्व ! मैं तुम्हें आजीवन बंदी बनाऊंगा।

[रामा आश्चर्य और दुःख से देखती है]

स्कंदगुप्त : शर्व ! यहां आओ। **(शर्व समीप आता है)**

देवकी : वत्स ! इसे किसी विषय का शासक बनाकर भेजो, जिसमें दुखिया रामा को किसी प्रकार का कष्ट न हो।

शर्व : महादेवी की जय हो !

स्कंदगुप्त : शर्व ! आज से तुम अंतर्वेद के विषयपति नियत किये गये। यह लो—**(खड्ग देता है)**

शर्वनाग : **(खड्ग लेते रुद्ध कंठ से)** सम्राट् ! देवता ! आपकी जय हो ! **(देवकी के पैर पर गिरकर)** मुझे क्षमा करो मां ! मैं मनुष्य से पशु हो गया था ! अब तुम्हारी ही दया से मैं मनुष्य हुआ। आशीर्वाद दो जगद्धात्री कि देव-चरणों में आत्मबलि देकर जीवन को सफल करूं !

देवकी : उठो शर्व ! क्षमा पर मनुष्य का अधिकार है, वह पशु के पास नहीं मिलती। प्रतिहिंसा पाशव धर्म है। उठो, मैं तुम्हें क्षमा करती हूं। **(शर्व खड़ा होता है)**

स्कंदगुप्त : भटार्क ! तुम गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत नियत किये गये थे, और तुम्हीं साम्राज्य-लक्ष्मी महादेवी की हत्या के कुचक्र में सम्मिलित थे ! यह तुम्हारा अक्षम्य अपराध है।

भटार्क : मैं केवल राजमाता की आज्ञा का पालन करता था।

देवकी : क्यों भटार्क ! यह उत्तर तुम सच्चे हृदय से देते हो ? ऐसा कहकर तुम स्वयं अपने को धोखा देते हुए क्या औरों को भी प्रवंचित नहीं कर रहे हो ?

भटार्क : अपराध हुआ। **(सिर नीचा कर लेता है)**

स्कंदगुप्त : तुम्हारे खड्ग पर साम्राज्य को भरोसा था। तुम्हारे हृदय

पर तुम्हीं को भरोसा न रहे, यह बड़े धिक्कार की बात है। तुम्हारा इतना पतन ? (**भटार्क स्तब्ध रहता है। विजया की ओर देखकर**) और तुम विजया ? तुम क्यों इसमें···

देवसेना : सम्राट् ! विजया मेरी सखी है।

विजया : परंतु मैंने भटार्क को वरण किया है।

जयमाला : विजया !

विजया : कर चुकी देवि !

देवसेना : उसके लिए दूसरा उपाय न था राजाधिराज ! प्रतिहिंसा मनुष्य को इतने नीचे गिरा सकती है ! परंतु विजया, तूने शीघ्रता की। (**स्कंद विजया की ओर देखते हुए विचार में पड़ जाता है**)

गोविंदगुप्त : यह वृद्धा इसी कृतघ्न भटार्क की माता है ! भटार्क के नीच कर्म से दुखी होकर यह उज्जयिनी चली आयी है !

स्कंदगुप्त : परंतु विजया, तुमने यह क्या किया ?

देवसेना : (**स्वगत**) आह ! जिसकी मुझे आशंका थी—वही है। विजया, आज तू हारकर भी जीत गयी।

देवकी : वत्स ! आज तुम्हारे शुभ महाभिषेक में एक बूंद भी रक्त न गिरे। तुम्हारी माता की यही मंगलकामना है कि तुम्हारा शासनदंड क्षमा के संकेत पर चला करे। आज मैं सबके लिए क्षमाप्रार्थिनी हूं।

धातुसेन : आर्य्यनारी सती ! तुम धन्य हो ! इसी गौरव से तुम्हारे देश का सिर ऊंचा रहेगा।

स्कंदगुप्त : जैसी माता की इच्छा···

मातृगुप्त : परमेश्वर परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री स्कदगुप्त की जय !

[**समवेत कंठ से जयघोष**]

[**पटाक्षेप**]

तृतीय अंक

दृश्य : एक

[शिप्रा तट]

प्रपंचबुद्धि : सब विफल हुआ। इस दुरात्मा स्कंदगुप्त ने मेरी आशाओं के भंडार पर अर्गला लगा दी। कुसुमपुर में पुरगुप्त और अनंतदेवी अपने विडंबना के दिन बिता रहे हैं। भटार्क भी बंदी हुआ, उसके प्राणों की रक्षा नहीं। क्रूर कर्मों की अवतारणा से भी एक बार सद्धर्म को उठाने की आकांक्षा थी, परंतु वह दूर गया। (**कुछ सोचकर**) उग्रतारा की साधना से विकट कार्य भी सिद्ध होते हैं, तो फिर इस महाकाल के महाश्मशान से बढ़कर कौन उपयुक्त स्थान होगा! चलूं···

[**जाना चाहता है। भटार्क का प्रवेश**]

भटार्क : भिक्षु शिरोमणे! प्रणाम!

प्रपंचबुद्धि : कौन, भटार्क! अरे मैं क्या स्वप्न देख रहा हूं?

भटार्क : नहीं आर्य—मैं जीवित हूं।

प्रपंचबुद्धि : उसने तुम्हें सूली पर नहीं चढ़ाया?

भटार्क : नहीं, उससे बढ़कर!

प्रपंचबुद्धि : क्या?

भटार्क : मुझे अपमानित करके क्षमा किया। मेरी वीरता पर एक दुर्वह उपकार का बोझ लाद दिया।

प्रपंचबुद्धि : तुम मूर्ख हो ! शत्रु से बदला लेने का उपाय करना चाहिए, न कि उसके उपकारों का स्मरण।

भटार्क : मैं इतना नीच नहीं हूं !

प्रपंचबुद्धि : परंतु मैं तुम्हारी प्रवृत्ति जानता हूं—तुम इतने उच्च भी नहीं हो। चलो, एकांत में बातें करें। कोई आता है।

[**दोनों जाते हैं—विजया का प्रवेश**]

विजया : मैं कहां जाऊं ? उस उच्छृंखल वीर को मैं लौह-शृंखला पहना सकूंगी—अपने बाहुपाश में उसे जकड़ सकूंगी ? हृदय के विकल मनोरथ—आह ! (**गाती है**)

उमड़ कर चली भिगोने आज तुम्हारा निश्चल अंचल छोर
नयन जल-धारा रे प्रतिकूल देख ले तू फिरकर इस ओर
हृदय की अंतरतम मुसक्यान कल्पनामय तेरा यह विश्व
लालिमा में लय हो लवलीन निरखते इन आंखों की कोर
—वह कौन ? ओ ! राजकुमारी !

[**देवसेना का प्रवेश —दूर उसकी परिचारिकाएं**]

देवसेना : विजया ! सायंकाल का दृश्य देखने शिप्रा-तट पर तुम भी आ गयी हो !

विजया : हां, राजकुमारी ! (**सिर झुका लेती है**)

देवसेना : विजया, अच्छा हुआ, तुमसे भेंट हो गयी, मुझे कुछ पूछना था।

विजया : पूछना क्या है ?

देवसेना : तुमने जो किया उसे सोच-समझकर किया है—कहीं तुम्हारे दंभ ने तुमको छल तो नहीं लिया ? तीव्र मनोवृत्ति के कशाघात ने तुम्हें विपथगामिनी तो नहीं बना दिया ?

विजया : राजकुमारी ! मैं अनुगृहीत हूं। उस कृपा को नहीं भूल सकती जो आपने दिखायी है। परंतु अब और प्रश्न करके मुझे उत्तेजित करना ठीक नहीं।

देवसेना : (**आश्चर्य से**) क्यों विजया ! मेरे सखीजनोचित सरल

प्रश्नों में भी तुम्हें व्यंग सुनायी पड़ता है ?

विजया : क्या इसमें भी प्रमाण की आवश्यकता है ? (**सरोष**) राजकुमारी ! आज से मेरी ओर देखना मत । मुझे कृत्या-अभिशाप की ज्वाला समझना और···

देवसेना : ठहरो, दम ले लो ! संदेह के गर्त्त में गिरने से पहले विवेक का अवलंब ले लो—विजया !

विजया : हताश जीवन कितना भयानक होता है—यह नहीं जानती हो ? उस दिन जिस तीखी छुरी को न रखने के लिए मेरी हंसी उड़ाई जा रही थी, मैं समझती हूं कि उसे रख लेना मेरे लिए आवश्यक था। राजकुमारी ! मुझे न छेड़ना। मैं तुम्हारी शत्रु हूं। (**क्रोध से देखती है**)

देवसेना : (**आश्चर्य से**) क्या कह रही हो ?

विजया : वही जिसे तुम सुन रही हो।

देवसेना : वह तो जैसे उन्मत्त का प्रलाप था। अकस्मात् स्वप्न देख-कर जग जाने वाले प्राणों की कुतूहल-गाथा थी। विजया ! क्या मैंने तुम्हारे सुख में बाधा दी—मैंने तो तुम्हारे मार्ग को स्वच्छ करने के सिवा रोड़े न बिछाये ।

विजया : उपकारों की ओट में मेरे स्वर्ग को छिपा दिया, मेरी कामनालता को समूल उखाड़कर कुचल दिया ।

देवसेना : शीघ्रता करने वाली स्त्री ! अपनी असावधानी का दोष दूसरे पर न फेंक । देवसेना मूल्य देकर प्रणय नहीं लिया चाहती···अच्छा, इससे क्या ! (**जाती है**)

विजया : जाती हो, परंतु सावधान !

[**भटार्क और प्रपंचबुद्धि का प्रवेश**]

भटार्क : विजया ! तुम कब आयी हो ?

विजया : अभी-अभी, तुम्हीं को तो खोज रही थी। (**प्रपंचबुद्धि को देखकर**) आप कौन हैं ?

भटार्क : 'योगाचार संघ' के प्रधान श्रमण आर्य्य प्रपंचबुद्धि !

[**विजया नमस्कार करती है**]

प्रपंचबुद्धि : कल्याण हो देवि ! भटार्क से तो तुम परिचित-सी हो, परंतु मुझे भी जान जाओगी।

विजया : आर्य्य ! आपके अनुग्रह-लाभ की बड़ी आकांक्षा है।

प्रपंचबुद्धि : शुभे ! प्रज्ञापारमिता-स्वरूपा तारा तुम्हारी रक्षा करे ! क्या तुम सद्धर्म की सेवा के लिए कुछ उत्सर्ग कर सकोगी ? (कुछ सोचकर) तुम्हारे मनोरथ पूर्ण होने में विघ्न और विलंब है। इसलिए तुम्हें अवश्य धर्माचरण करना होगा।

विजया : आर्य्य ! मेरा भी एक स्वार्थ है।

प्रपंचबुद्धि : क्या ?

विजया : राजकुमारी देवसेना का अंत !

प्रपंचबुद्धि : और मुझे उग्रतारा की साधना के लिए महाश्मशान में एक राजबलि चाहिए।

भटार्क : यह तो अच्छा सुयोग है।

विजया : उसे श्मशान तक ले आना तो मेरा काम है, आगे मैं कुछ न कर सकूंगी।

प्रपंचबुद्धि : सब हो जायेगा। उग्रतारा की कृपा से सब कुछ सुसंपन्न होगा।

भटार्क : परंतु मैं कृतघ्नता से कलंकित होऊंगा। और स्कंदगुप्त से मैं किस मुंह से···नहीं···नहीं···

प्रपंचबुद्धि : सावधान ! भटार्क ! अलग ले जाकर समझाया फिर भी···! तुम पहले अनंतदेवी और पुरगुप्त से प्रतिश्रुत हो चुके हो।

भटार्क : ओह ! पाप-पंक में लिप्त मनुष्य की छुट्टी नहीं। कुकर्म उसे जकड़कर अपने नागपाश में बांध लेता है ! दुर्भाग्य !

[**सबका प्रस्थान**]

मातृगुप्त : (**निकलकर**) भयानक कुचक्र ! एक निर्मल कुसुम-कली को कुचलने के लिए इतनी बड़ी प्रतारणा की चक्की ! मनुष्य ! तुझे हिंसा का उतना ही लोभ है, जितना एक भूखे भेड़िये को ! तब भी मेरे पास उससे कुछ विशेष

साधन हैं—छल, कपट, विश्वासघात, कृतघ्नता और पौने अस्त्र। इनसे भी बढ़कर प्राण लेने की कला-कुशलता। देखा जायेगा, भटार्क ! तुम जाते कहां हो ! (**प्रस्थान**)

दृश्य : दो

[**श्मशान-साधक के रूप में प्रपंचबुद्धि। दूर से स्कंदगुप्त आता है**]

स्कंदगुप्त : इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए ? हृदय में अशांति, राज्य में अशांति, परिवार में अशांति ! केवल मेरे अस्तित्व से ? मालूम होता है कि सबकी—विश्व-भर की—शांति-रजनी में मैं ही धूमकेतु हूं, यदि मैं न होता—तो यह संसार अपनी स्वाभाविक गति से—आनंद से, चला करता। परंतु मेरा तो निज का कोई स्वार्थ नहीं, हृदय के एक-एक कोने को छान डाला—कहीं भी कामना की वन्या नहीं—बलवती आशा की आंधी नहीं चल रही है। केवल गुप्त सम्राट् के वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्यपूर्ण क्रिया-कलाप में संलग्न रखा है। कोई भी मेरे अंतःकरण का आलिंगन करके न रो सकता है, और न तो हंस सकता है। तब भी विजया···? ओह ! उसे स्मरण करके क्या होगा ! जिसे हमने सुख-शर्वरी की संध्या तारा के समान पहले देखा, वही उल्कापिंड होकर दिगंत दाह करना चाहती है। विजया ! तूने क्या किया ! (**प्रपंचबुद्धि को देखकर**) ओह, कैसा भयानक मनुष्य है ! कैसी क्रूर आकृति है—मूर्तिमान पिशाच है ! अच्छा, मातृ-गुप्त तो अभी तक नहीं आया। छिपकर देखूं। (**छिपता है**)

[**विजया के साथ देवसेना का प्रवेश**]

देवसेना : आज फिर तुम किस अभिप्राय से आयी हो ?

विजया : और तुम राजकुमारी ? क्या तुम इस महाबीभत्स श्मशान

में आने से नहीं डरती हो ?

देवसेना : संसार का मूक शिक्षक—श्मशान—क्या डरने की वस्तु है ? जीवन की नश्वरता के साथ ही सर्वात्मा के उत्थान का ऐसा सुंदर स्थल और कौन है ?

[नेपथ्य से गान]

सब जीवन बीता जाता है। धूप-छाँव के खेल-सदृश—सब०
समय भागता है प्रतिक्षण में, नव अतीत के तुषार-कण में,
हमें लगाकर भविष्य-रण में, आप कहां छिप जाता है—सब०
बुल्ले, लहर, हवा के झोंके, मेघ और बिजली के टोंके,
किसका साहस है कुछ रोके, जीवन का वह नाता है—सब०
बंशी को बस बज जाने दो, मीठी मींड़ों को आने दो,
आंख बंद करके गाने दो, जो कुछ हमको आता है—सब०

विजया : (**स्वगत**) भाव-विभोर दूर की रागिनी सुनती हुई यह कुरंगी-सी कुमारी···आह ! कैसा भोला मुखड़ा ! पर नहीं, नहीं विजया ! सावधान ! प्रतिहिंसा—(**प्रकट**) राजकुमारी ! देखो, यह कोई बड़ा सिद्ध है वहां तक चलोगी ?

देवसेना : चलो, परंतु मुझे सिद्ध से क्या प्रयोजन ? जब मेरी कामनाएं विस्मृति के नीचे दबा दी गयी हैं, तब वह चाहे स्वयं ईश्वर ही हो तो क्या ? तब भी एक कुतूहल है ! चलो—

[विजया देवसेना को आगे कर प्रपंचबुद्धि के पास ले जाती है और आप हट जाती है। ध्यान से आंखें खोलकर प्रपंच उसे देखता है।]

प्रपंचबुद्धि : तुम्हारा नाम देवसेना है ?

देवसेना : (**आश्चर्य से**) हां, भगवन् !

प्रपंचबुद्धि : तुमको देवसेना के लिए शीघ्र प्रस्तुत होना होगा। तुम्हारी ललाटलिपि कह रही है कि तुम बड़ी भाग्यवती हो !

देवसेना : कौन-सी देवसेवा ?

प्रपंचबुद्धि : यह नश्वर शरीर, जिसका उपभोग तुम्हारा प्रेमी भी न कर सका और न करने की आशा है, देवसेवा में अर्पित करो ! तारा तुम्हारा परम मंगल करेगी।

देवसेना : (सिहर उठती है) क्या मुझे अपनी बलि देनी होगी ? (घूमकर देखती है) विजया ! विजया !

प्रपंचबुद्धि : डरो मत, तुम्हारा सृजन इसीलिए था। नित्य की मोह-ज्वाला में जलने से तो यही अच्छा है कि तुम एक साधक का उपकार करती हुई अपनी ज्वाला को शांत कर दो !

देवसेना : परंतु—कापालिक ! एक और भी आशा मेरे हृदय में है। वह पूर्ण नहीं हुई। मैं डरती नहीं हूं, केवल उसके पूर्ण होने की प्रतीक्षा है। विजया के स्थान को मैं कदापि न ग्रहण करूंगी। उसे भ्रम है, यदि वह छूट जाता।

प्रपंचबुद्धि : (उठकर उसका हाथ पकड़कर खड्ग उठाता है) पर मुझे ठहरने का अवकाश नहीं। उग्रतारा की इच्छा पूर्ण हो।

देवसेना : प्रियतम ! मेरे देवता ! युवराज ! तुम्हारी जय हो ! (सिर झुकाती है)

[पीछे से मातृगुप्त आकर प्रपंच का हाथ पकड़कर नेपथ्य में ले जाता है। देवसेना चकित होकर स्कंद का आलिंगन करती है।]

दृश्य : तीन

[मगध के राजमंदिर में अनंतदेवी, पुरगुप्त, विजया और भटार्क]

पुरगुप्त : विजय-पर-विजय ! देखता हूं कि एक बार वंक्षुतट पर गुप्त-साम्राज्य की पताका फिर फहरायेगी। गरुड़ध्वज वंक्षु के रेतीले मैदान में अपनी स्वर्ण-प्रभा का विस्तार

करेगा।

अनंतदेवी : परंतु तुमको क्या ? निर्वीर्य—निरीह बालक ! तुम्हें भी इसकी प्रसन्नता है ? लज्जा की गर्त में डूब नहीं जाते—और भी छाती फुलाकर इसका आनंद मानते हो !

विजया : अहा ! यदि आज राजाधिराज कहकर युवराज पुरगुप्त का अभिनंदन कर सकती !

भटार्क : यदि मैं जीता रहा तो वह भी कर दिखाऊंगा।

दौवारिक : (प्रवेश करते) जय हो ! एक चर आया है।

भटार्क : ले आओ।

[दौवारिक जाकर चर को लिवा लाता है]

चर : युवराज की जय हो !

भटार्क : तुम कहां से आये हो ?

चर : नगरहार के हूण-स्कंधावार से।

भटार्क : क्या संदेश है ?

चर : सेनापति खिंगिल ने पूछा है कि मगध की गुप्त परिषद् क्या कर रही है ? उसने प्रचुर अर्थ लेकर भी मुझे ठीक समय पर धोखा दिया है। परंतु स्मरण रहे कि अब की हमारा अभियान सीधे कुसुमपुर पर होगा। स्कंदगुप्त का साम्राज्य-ध्वंस तो पीछे होगा, पहले कुसुमपुर का मणि-रत्न-भांडार लूटा जायेगा। प्रतिष्ठान और चरणाद्रि तथा गोपाद्रि के दुर्ग-पतियों को विद्रोह करने के लिए धन—परिषद् की आज्ञा से भेजा गया था, उसका क्या फल हुआ ? अंतर्वेद के विषयपति की कुटिल दृष्टि ने उस रहस्य का उद्‌घाटन करके धन को आत्मसात् कर लिया और सहायता के बदले हम लोग प्रवंचित हुए, जिससे हूणों को सिंधु का तट भी छोड़ देना पड़ा।

भटार्क : ओह ! शर्वनाग ने बड़ी सावधानी से काम लिया ! आचार्य प्रपंचबुद्धि का निधन होने से यह सब दुर्घटना हुई है। दूत ! हूणराज से कहना कि पुरगुप्त को सम्राट् बनाने में

उन्हें अवश्य सहायता करनी पड़ेगी।

चर : परंतु उन्हें विश्वास कैसे हो ?

भटार्क : मैं प्रमाण-पत्र दूंगा। हूणों को एक बार ही भारतीय सीमा से दूर करने के लिए स्कंदगुप्त ने समस्त सामंतों को आमंत्रण दिया है। मगध की रक्षक सेना भी उसमें सम्मिलित होगी और मैं ही उसका परिचालन करूंगा। वहीं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलेगा। और यह लो प्रमाण-पत्र। **(पत्र लिखकर देता है)**

पुरगुप्त : ठहरो !

अनंतदेवी : चुप रहो !

दूत : तो यह उपहार भी साम्राज्ञी के लिए प्रस्तुत है। **(रत्नों से भरी हुई मंजूषा देता है)**

भटार्क : और उत्तरापथ के समस्त धर्मसंघों के लिए क्या किया है ?

दूत : आर्य महाश्रमण के पास मैं हो आया हूं। सद्धर्म के समस्त अनुयायी और संघ, स्कंदगुप्त के विरुद्ध हैं। याज्ञिक क्रियाओं की प्रचुरता से उनका हृदय धर्मनाश के भय से घबरा उठा है। वे सब विद्रोह करने के लिए उत्सुक हैं।

भटार्क : अच्छा, जाओ। नगरहार के गिरिव्रज का युद्ध इसका निबटारा करेगा। हूणराज से कहना कि सावधान रहें— शीघ्र वहीं मिलूंगा। **(दूत प्रणाम करके जाता है)**

पुरगुप्त : यह क्या हो रहा है ?

अनंतदेवी : तुम्हारे सिंहासन पर बैठने की प्रस्तावना है !

सैनिक : **(प्रवेश करते हुए)** महादेवी की जय हो !

भटार्क : क्या है ?

सैनिक : कुसुमपुर की सेना जालंधर से भी आगे बढ़ चुकी है। साम्राज्य के स्कंधावार में शीघ्र ही उसके पहुंच जाने की संभावना है।

पुरगुप्त : विजया ! बहुत विलंब हुआ। एक पात्र···

[अनंतदेवी संकेत करती है। विजया उसे पिलाती है]

भटार्क : मेरे अश्वों की व्यवस्था ठीक है न? मैं उसके पहले पहुंचूंगा।

सैनिक : परंतु महाबलाधिकृति !

भटार्क : कहो !

सैनिक : यह राष्ट्र का आपत्तिकाल है, युद्ध की आयोजनाओं के बदले हम कुसुमपुर में आपानकों का समारोह देख रहे हैं। राजधानी विलासिता का केंद्र बन रही है। यहां के मनुष्यों के लिए विलास के उपकरण बिखरे रहने पर भी—अपर्याप्त हैं ! नये-नये साधन और नवीन कल्पनाओं से भी इस विलासिता राक्षसी का पेट नहीं भर रहा है। भला मगध के विलासी सैनिक क्या करेंगे ?

भटार्क : अबोध ! जो विलासी न होगा, वह भी क्या वीर हो सकता है ? जिस जाति में जीवन न होगा, वह विलास क्या करेगी ? जाग्रत राष्ट्र में ही विलास और कलाओं का आदर होता है। वीर एक कान से तलवारों की और दूसरे से नूपुरों की झनकार सुनते हैं।

विजया : बात तो यही है।

सैनिक : आप महाबलाधिकृत हैं—इसलिए मैं कुछ न कहूंगा !

भटार्क : नहीं तो ?

सैनिक : नहीं तो दूसरा कोई ऐसा कहता, तो मैं यही उससे कहता कि तुम देश-शत्रु हो !

भटार्क : (क्रोध से) हैं···

सैनिक : हां ! यवनों से उधार ली हुई सभ्यता नाम की विलासिता के पीछे आर्य्य-जाति उसी तरह पड़ी है, जैसे कुलवधू को छोड़कर कोई नागरिक वेश्या के चरणों में ! देश पर बर्बर हूणों की चढ़ाई और तिस पर भी यह निर्लज्ज आमोद ! जातीय जीवन के निर्वाणोन्मुख प्रदीप का—यह दृश्य—

आह ! जिस मगध की सेना सदैव नासीर में रहती थी—आर्य्य चंद्रगुप्त की वही विजयिनी सेना सबके पीछे निमंत्रण पाने पर साम्राज्य-सेना में जाय ! महाबलाधिकृत ! मेरी तो इच्छा होती है कि मैं आत्महत्या कर लूं ! मैं उस सेना का नायक हूं जिस पर गरुड़ध्वज की रक्षा का भार रहता था। आर्य्य समुद्रगुप्त द्वारा प्रतिष्ठित उसी सेना का ऐसा अपमान !

भटार्क : (**अपने क्रोध का मनोभाव दबाकर**) अच्छा, तुम यहीं मगध की रक्षा करना, मैं जाता हूं।

सैनिक : हूं—अच्छा, तो यह खड्ग लीजिए, मैं आज से मगध की सेना का नायक नहीं। (**खड्ग रख देता है**)

परगुप्त : (**मद्यप की-सी चेष्टा करते**) यह अच्छा किया—आओ मित्र—हम-तुम कादंब पिएं। जाने दो इन्हें—इन्हें लड़ने दो !

अनंतदेवी : (**भटार्क को संकेत करती हुई ले जाती है और विजया से कहती हैं**) विजया ! युवराज का मन बहलाओ।

[**सैनिक तिरस्कार की दृष्टि से देखते हुए जाता है। भटार्क और अनंतदेवी एक ओर, विजया और पुरगुप्त दूसरी ओर जाते हैं**]

दृश्य चार

[**उपवन में जयमाला और देवसेना**]

जयमाला : तू उदास है कि प्रसन्न, कुछ समझ में नहीं आता ? जब तू गाती है तब तेरे भीतर की रागिनी होती है और जब हंसता है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है !

पहली सखी : सम्राट् युद्ध-यात्रा में गये हैं और···

दूसरी सखी : तो क्या ?

देवसेना : तुम सब भी भाभी के साथ मिल गयी हो। क्यों भाभी,

गाऊं वह गीत ?

जयमाला : मेरी प्यारी ! तू गाती है। अहा ! बड़ी-बड़ी आंखें तो बरसाती ताल-सी लहरा रही हैं। तू दुखी होती है, मैं जाती हूं। अरी ! तुम सब इसे हंसाओ। (**जाती है**)

देवसेना : क्या महारथी हारकर भागे ? अब तुम सब क्षुद्र सैनिकों की पारी है ? अच्छा, तो आओ।

पहली सखी : नहीं, राजकुमारी ! मैं पूछती हूं कि सम्राट् ने तुमसे कभी प्रार्थना की थी ?

दूसरी सखी : हां, तभी तो प्रेम का सुख है !

तीसरी सखी : तो क्या मेरी राजकुमारी स्वयं प्रार्थिनी होंगी ? उहूं !

देवसेना : प्रार्थना किसने की है, यह रहस्य की बात है—क्यों कहूं ? प्रार्थना हुई है मालव की ओर से, लोग कहेंगे कि मालव देकर देवसेना का ब्याह किया जा रहा है।

पहली सखी : न कहो, तब फिर क्या—हरी-हरी कोंपलों की टट्टी में फूल खिल रहा है—और क्या !

देवसेना : तेरा मुंह काला, और क्या ? निर्दय होकर आघात मत कर, मर्म बड़ा कोमल है। कोई दूसरी हंसी तुझे नहीं आती ? (**मुंह फेर लेती है**)

दूसरी सखी : लक्ष्यभेद ठीक हुआ-सा देखती हूं।

देवसेना : क्यों घाव पर नमक छिड़कती है ? मैंने कभी उनसे प्रेम की चर्चा करके उनका अपमान नहीं होने दिया है। नीरव जीवन और एकांत व्याकुलता—कचोटने का सुख मिलता है। जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूं। उसी में सब छिप जाता है। (**आंखों से आंसू बहता है**)

तीसरी सखी : है-हैं···क्या तुम रोती हो ? मेरा अपराध क्षमा करो !

देवसेना : (**सिसकती हुई**) नहीं प्यारी सखी ! आज ही मैं प्रेम के नाम पर जी खोलकर रोती हूं, बस, फिर नहीं। यह एक क्षण का रुदन अनंत स्वर्ग का सृजन करेगा।

दूसरी सखी : तुम्हें इतना दुःख है, मैं यह कल्पना भी न कर सकी थी।

देवसेना : (सम्हलकर) यहीं तू भूलती है। मुझे तो इसी में सुख मिलता है। मेरा हृदय मुझसे अनुरोध करता है, मचलता है, रूठता है, मैं उसे मनाती हूं। आंखें प्रणय-कलह उत्पन्न कराती हैं, चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि झिड़कती है, कान कुछ सुनते ही नहीं! मैं सबको समझाती हूं, विवाद मिटाती हूं। सखी! फिर भी मैं इसी झगड़ालू कुटुंब में गृहस्थी संभालकर, स्वस्थ होकर बैठती हूं।

तीसरी सखी : आश्चर्य! राजकुमारी! तुम्हारे हृदय में एक बरसाती नदी वेग से भरी है।

देवसेना : कूलों में उफनकर बहने वाली नदी, तुमुल तरंग, प्रचंड पवन और भयानक वर्षा! परंतु उसमें भी नाव चलानी ही होगी। (**पहली सखी गाती है**)

मांझी! साहस है? खे लोगे?
जर्ज्जर तरी भरी पथिकों से झड़ में क्या खे लोगे?
अलस नील-घन की छाया में—
जलजालों की छल-माया में अपना बल तोलोगे!
अनजाने तट की मदमाती—
लहरें, क्षितिज चूमती आतीं! ये झटके—झेलोगे?
मांझी! साहस है? खे लोगे!

[**भीमवर्म्मा का प्रवेश**]

भीमवर्म्मा : बहिन! शक-मंडल से विजय का समाचार आया है।

देवसेना : भगवान की दया है।

भीमवर्म्मा : परंतु महाराजपुत्र गोविंदगुप्त वीरगति को प्राप्त हुए, यह बड़ा···

देवसेना : वे धन्य हैं।

भीमवर्म्मा : वीर-शय्या पर सोते-सोते उन्होंने अनुरोध किया कि महाराज बंधुवर्म्मा गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत बनाये जायें, इसलिए अभी वे स्कंधावार में ठहरेंगे। उनका

आना अभी नहीं हो सकता। और भी कुछ सुना देवसेना ?

देवसेना : क्या ?

भीमवर्म्मा : सम्राट् ने तुम्हें बचाने के पुरस्कारस्वरूप मातृगुप्त को काश्मीर का शासक बना दिया है। गांधारवंशी राजा वहां नहीं हैं। काश्मीर अब साम्राज्य के अंतर्गत हो गया है।

देवसेना : सम्राट् की महानुभावता है। भाई ! मेरे प्राणों का इतना मूल्य ?

भीमवर्म्मा : आर्य-साम्राज्य का उद्धार हुआ है। बहिन ! सिंधु प्रदेश के मलेच्छ राज्य का ध्वंस हो गया है। प्रवीर सम्राट् स्कंदगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की है। गौ, ब्राह्मण और देवताओं की ओर कोई भी आततायी आंख उठाकर नहीं देखता। लौहित्य से सिंधु तक हिमालय की कंदराओं में भी, स्वच्छंदतापूर्वक सामगान होने लगा। धन्य हैं हम लोग जो इस दृश्य को देखने के लिए जीवित हैं।

देवसेना : मंगलमय भगवान् सब मंगल करेंगे। भाई, साहस चाहिए, कोई वस्तु असंभव नहीं।

भीमवर्म्मा : उत्तरापथ के सुशासन की व्यवस्था करके परम भट्टारक शीघ्र आवेंगे। मुझे अभी स्नान करना है—जाता हूं।

देवसेना : भाई ! तुम अपने शरीर के लिए बड़े ही निश्चिंत रहते हो। और कामों के लिए तो···

[भीमवर्म्मा हंसता हुआ जाता है। मुद्गल का प्रवेश]

मुद्गल : जो है सो काणाम से करके—यह तो अपने से नहीं हो सकता। उहूं, जब कोई न मिला तो फूटे ढोल की तरह मेरे गले पड़ी !

देवसेना : क्या मुद्गल !

मुद्गल : वही-वही सीता की सखी मंदोदरी की नानी त्रिजटा, कहां है मातृगुप्त ज्योतिषी की दुम ! अपने को कवि भी लगाता था ! मेरी कुंडली मिलाई या कि मुझे मिट्टी में मिलाया।

शाप दूंगा—एक शाप ! दांत पीसकर, हाथ उठाकर, शिखा खोलते हुए चाणक्य का लकड़दादा बन जाऊंगा। मुझे इस झंझट में फंसा दिया ! उसने क्यों मेरा ब्याह कराया···?

देवसेना : तो क्या बुरा किया ?

मुद्गल : झख मारा, जो है सो काणाम से करके।

देवसेना : अरे ब्याह भी तुम्हारा होता ?

मुद्गल : न होता तो क्या इससे भी बुरा रहता ? बाबा, अब तो मैं इस पर भी प्रस्तुत हूं कि कोई इसको फेर ले। परंतु यह हत्या कौन अपने पल्ले बांधेगा ! (**सब हंसती हैं**)

दवसेना : आज कौन-सी तिथि है ? एकादशी तो नहीं है ?

मुद्गल : हां, यजमान के घर एकादशी और मेरे पारण की द्वादशी, क्योंकि ठीक मध्याह्न में एकादशी के ऊपर द्वादशी चढ़ बैठती है, उसका गला दबा देती है, पेट पचकने लगता है।

देवसेना : अच्छा, आज तुम्हारा निमंत्रण है—तुम्हारी स्त्री के साथ।

मुद्गल : जो है सो देवता प्रसन्न हों, आपका कल्याण हो ! फिर शीघ्रता होनी चाहिए। पुण्यकाल बीत न जाय···चलिए, मैं उसे बुला लेता हूं। (**जाता है**)

दृश्य : पांच

[**गांधार की घाटी—रणक्षेत्र**]

[**तुरही बजती है, स्कंदगुप्त और बंधुवर्म्मा के साथ सैनिकों का प्रवेश**]

बंधुवर्म्मा : वीरो ! तुम्हारी विश्वविजयिनी वीर-गाथा सुर-सुंदरियों की वीणा के साथ मंद ध्वनि से नंदन में गूंज उठेगी। असीम साहसी आर्य्य सैनिक ! तुम्हारे शस्त्र ने बर्बर हूणों को बता दिया है कि रणविद्या केवल नृशंसता नहीं है। जिनके आतंक से आज विश्वविख्यात रूम-साम्राज्य

पादाक्रांत है, उन्हें तुम्हारा लोहा मानना होगा और तुम्हारे पैरों के नीचे दबे हुए कंठ से उन्हें स्वीकार करना होगा कि भारतीय दुर्जेय वीर हैं। समझ लो, आज के युद्ध में प्रत्यावर्त्तन नहीं है। जिसे लौटाना हो, अभी से लौट जाये।

सैनिक : आर्य्य सैनिकों का अपमान करने का अधिकार—महाबलाधिकृत को भी नहीं है। हम सब प्राण देने आये हैं—खेलने नहीं।

स्कंदगुप्त : साधु ! तुम यथार्थ ही जननी जन्मभूमि की संतान हो।

सैनिक : राजाधिराज श्री स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की जय !

चर : (**प्रवेश करके**) परम भट्टारक की जय !

स्कंदगुप्त : क्या समाचार है ?

चर : देव ! हूण शीघ्र ही—नदी पार होकर—आक्रमण की प्रतीक्षा कर रहे हैं, यदि आक्रमण न हुआ, तो वे स्वयं आक्रमण करेंगे।

बंधुवर्म्मा : और कुभा के रणक्षेत्र का क्या समाचार है ?

चर : मगध की सेना पर विश्वास करने के लिए मैं न कहूंगा। भटार्क की दृष्टि में पिशाच की मंत्रणा चल रही है, खिंगिल के दूत भी आ रहे हैं। चक्रपालित उस कूट-चक्र को तोड़ सकेंगे कि नहीं, इसमें संदेह है।

स्कंदगुप्त : बंधुवर्म्मा ! तुम कुभा के रणक्षेत्र की ओर जाओ, मैं यहां देख लूंगा।

बंधुवर्म्मा : राजाधिराज ! मगध की सेना पर अधिकार रखना मेरे सामर्थ्य के बाहर होगा, और मालव की सेना आज नासीर में है। आज इस नदी की तीक्ष्ण धारा को लाल करके बहा देने की मेरी प्रतिज्ञा है। आज मालव का एक भी सैनिक नासीर से न हटेगा।

स्कंदगुप्त : बंधु ! यह यश मुझसे मत छीन लो।

बंधुवर्म्मा : परंतु सबके प्राण देने के स्थान भिन्न हैं। यहां मालव की सेना मरेगी, दूसरे को यहां मरकर अधिकार जमाने का

अधिकार नहीं। और बंधुवर्म्मा मरने-मारने में जितना पटु है, उतना षड्यंत्र में नहीं। आपके रहने से सौ बंधुवर्म्मा उत्पन्न होंगे। आप शीघ्रता कीजिए।

स्कंदगुप्त : बंधुवर्म्मा। तुम बड़े कठोर हो।

बंधुवर्म्मा : शीघ्रता कीजिए। यहां हूणों को रोकना मेरा ही कर्त्तव्य है, उसे मैं ही करूंगा। महाबलाधिकृत का अधिकार मैं न छोड़ूंगा। चक्रपालित वीर है, परंतु अभी वह नवयुवक है, आपका वहां पहुंचना आवश्यक है। भटार्क पर विश्वास न कीजिए।

स्कंदगुप्त : मैं समझा कि हूणों के सम्मुख वह विश्वासघात न करेगा।

बधुवर्म्मा : ओह! जिस दिन ऐसा हो जायेगा, उस दिन कोई भी इधर आंख उठाकर न देखेगा—सम्राट! शीघ्रता कीजिए।

स्कंदगुप्त : (**आलिंगन करता है**) मालवेश की जय!

बंधुवर्म्मा : महाराजाधिराज श्री स्कंदगुप्त की जय! (**चर के साथ स्कंदगुप्त जाते हैं**)

[**नेपथ्य में रणवाद्य। शत्रु सेना आती हैं। हूणों की सेना से विकट युद्ध। हूणों का मरना, घायल होकर भागना। बंधुवर्म्मा की अंतिम अवस्था। गरुड़ध्वज टेककर उसे चूमना**]

बंधुवर्म्मा : (**दम तोड़ते हुए**) विजय! तुम्हारी···विजय···! आर्य्य-साम्राज्य की जय!

बंधुवर्म्मा : भाई! स्कंदगुप्त से कहना कि मालव-वीर ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की, भीम और देवसेना उनकी शरण हैं।

सैनिक : महाराज! आप क्या कहते हैं। (**सब शोक करते हैं**)

बंधुवर्म्मा : बंधुगण! यह रोने का नहीं—आनंद का समय है। कौन वीर इसी तरह जन्मभूमि की रक्षा में प्राण देता है, यही मैं ऊपर से देखने जाता हूं।

सैनिक : महाराज बंधुवर्म्मा की जय!

[**गरुड़ध्वज की छाया में बंधुवर्म्मा की मृत्यु**]

दृश्य : छह

[दुर्ग के सम्मुख कुंभा का रणक्षेत्र। चक्रपालित और स्कंदगुप्त]

चक्रपालित : सम्राट्! प्रतारणा की पराकाष्ठा! दो दिन से जान-बूझकर शत्रु को ऊंची पहाड़ी पर जमने का अवकाश दिया जा रहा है। आक्रमण करने से मैं रोका जा रहा हूं—मगध की समस्त सेना उसके संकेत पर चल रही है।

स्कंदगुप्त : चक्र! कुभा में जल बहुत कम है, आज ही उतरना होगा। तुम्हें दुर्ग में रहना चाहिए। मैं भटार्क पर विश्वास तो करता ही नहीं परंतु उस पर प्रकट रूप से अविश्वास का भी समय नहीं रहा।

चक्रपालित : नहीं सम्राट्! उसे बंदी कीजिए। यह देखिए—आ रहा है।

भटार्क : (**प्रवेश करते**) राजाधिराज की जय हो!

स्कंदगुप्त : क्यों सेनापति! यह क्या हो रहा है?

भटार्क : आक्रमण की प्रतीक्षा सम्राट्!

स्कंदगुप्त : या समय की?

भटार्क : सम्राट का मुझ पर विश्वास नहीं है, यह···।

चक्रपालित : विश्वास तो कहीं से क्रय नहीं किया जाता।

भटार्क : तुम अभी बालक हो।

चक्रपालित : दुराचारी! कृतघ्न! अभी मैं तेरा कलेजा फाड़ खाता, तेरा···

भटार्क : सावधान! अब मैं सहन नहीं कर सकता। (**तलवार पर हाथ रखता है**)

स्कंदगुप्त : भटार्क! वह बालक है। कूट-मंत्रणा, वाक्चातुरी नहीं जानता—चुप रहो चक्र! (**चक्रपालित और भटार्क सिर नीचा कर लेते हैं**) भटार्क! प्रवंचना का समय नहीं है। स्मरण रखना—कृतघ्नों और नीचों की श्रेणी में, तुम्हारा नाम पहले रहेगा। (**भटार्क चुप रहता है**) युद्ध के लिए प्रस्तुत

हो ?

भटार्क : मेरा खड्ग साम्राज्य की सेवा करेगा।

स्कंदगुप्त : अच्छा, तो अपनी सेना लेकर तुम गिरिसंकट पर पीछे से आक्रमण करो और सामने से मैं आता हूं। चक्र ! तुम दुर्ग की रक्षा करो।

भटार्क : जैसी आज्ञा ! नगरहार के स्कंधावार को भी सहायता के लिए कहला दिया जाय तो अच्छा हो।

स्कंदगुप्त : चर गया है। तुम शीघ्र जाओ। देखो—सामने शत्रु दीख पड़ते हैं। (**भटार्क का प्रस्थान**)

चक्रपालित : भविष्य अच्छा नहीं है चक्र ! नगरहार से समय पर सहायता पहुंचती नहीं दिखायी देती परंतु यदि आवश्यकता हो—तो शीघ्र नगरहार की ओर प्रत्यावर्त्तन करना। मैं वहीं तुमसे मिलूंगा। (**चर का प्रवेश**)

स्कंदगुप्त : गांधार युद्ध का क्या समाचार है ?

चर : विजय ! उस रणक्षेत्र में हूण नहीं रह गये—परंतु सम्राट् बंधुवर्म्मा नहीं हैं।

स्कंदगुप्त : आह बंधु ! तुम चले गये ? धन्य हो वीर-हृदय। (**शोक मुद्रा में बैठ जाता है**)

चक्रपालित : इसका समय नहीं है सम्राट्, उठिए सेना आ रही है, इस समय यह समाचार नहीं प्रचारित करना है।

स्कंदगुप्त : (**उठते हुए**) ठीक कहा ! (**भटार्क के साथ सेना का प्रवेश**) भटार्क ! देखो, कुभा के उस बंध से सावधान रहना। आक्रमण में यदि असफलता हो, और शत्रु की दूसरी सेना कुभा को पार करना चाहे तो उसे काट देना। देखो भटार्क ! तुम्हारे विश्वास का यही प्रमाण है।

भटार्क : जैसी आप की आज्ञा ! (**कुछ सैनिकों के साथ जाता है**)

स्कंदगुप्त : चक्र ! दुर्ग-रक्षक सैनिकों को लेकर तुम प्रतीक्षा करना। हम इसी छोटी-सी सेना से आक्रमण करेंगे। तुम सावधान ! (**नेपथ्य में रणवाद्य**) देखो—वे हूण आ रहे

हैं। उन्हें वहीं रोकना होगा।

चक्रपालित : जैसी आज्ञा ! (**जाता है**)

स्कंदगुप्त : वीर मगध-सैनिको ! आज स्कंदगुप्त तुम्हारी परिचालना कर रहा है, यह ध्यान रहे, भले ही प्राण जायें।

मगध-सेना : राजाधिराज श्री स्कंदगुप्त की जय !

[सेना बढ़ती है। ऊपर से अस्त्रवर्षा होती है। घोर युद्ध के बाद हूण भागते हैं। साम्राज्य-सेना जयनाद करते हुए शिखर पर अधिकार करती है।]

नायक : (**ऊपर से देखता हुआ**) सम्राट् ! आश्चर्य है, भागी हुई हूण-सेना कुभा के उस पार उतर जाना चाहती है !

स्कंदगुप्त : क्या कहा ?

नायक : कुछ मगध-सेना भी वहां हैं, परंतु वह तो जैसे उनका स्वागत कर रही है।

स्कंदगुप्त : विश्वासघात—प्रतारणा ! नीच भटार्क !···दुर्ग की रक्षा होनी चाहिए। उस पार की हूण-सेना यदि आ गयी, तो कृतघ्न भटार्क उन्हें मार्ग बतावेगा। वीरो, शीघ्र—उन्हें उसी पार रोकना होगा, अभी कुभा पार होने की संभावना है।

[नायक तुरही बजाता है। सैनिक इकट्ठे होते हैं।]

स्कंदगुप्त : (**घबराहट से देखते हुए**) शीघ्रता करो !

नायक : क्या ?

स्कंदगुप्त : नीच भटार्क ने बंध तोड़ दिया है, कुभा में जल बड़े वेग से बढ़ रहा है। चलो शीघ्र—

[सब उतरना चाहते हैं। कुभा में अकस्मात् जल बढ़ जाता है। सब बहते हुए दिखायी देते हैं। अंधकार]

[पटाक्षेप]

चतुर्थ अंक

दृश्य : एक

[प्रकोष्ठ में विजया और अनंतदेवी)

अनंतदेवी : क्या कहा ?

विजया : मैं आज ही पासा पलट सकती हूं ! जो झूला ऊपर उठ रहा है, उसे एक ही झटके में पृथ्वी चूमने के लिए विवश कर सकती हूं।

अनंतदेवी : क्यों ? इतनी उत्तेजना क्यों है ? सुनूं भी तो !

विजया : समझ जाओ।

अनंतदेवी : नहीं, स्पष्ट कहो।

विजया : भटार्क मेरा है !

अनंतदेवी : तो ?

विजया : उस राह से दूसरों को हटाना होगा।

अनंतदेवी : कौन छीन रहा है ?

विजया : एक पाप-पंक में फंसी हुई निर्लज्ज नारी। क्या उसका नाम भी बताना होगा ? समझो, नहीं तो साम्राज्य का स्वप्न गला दबाकर भंग कर दिया जायेगा।

अनंतदेवी : (हंसती हुई) मूर्ख रमणी ! तेरा भटार्क केवल मेरे कार्य-साधन का अस्त्र है, और कुछ नहीं। वह पुरगुप्त के ऊंचे सिंहासन की सीढ़ी है—समझी ?

विजया : समझी और तुम भी जान लो कि तुम्हारा नाश समीप है।

अनंतदेवी : (**बनाती हुई**) क्या तुम पुरगुप्त के साथ सिंहासन पर नहीं बैठना चाहती हो ? क्यों—वह भी तो कुमारगुप्त का पुत्र है ?

विजया : हां, वह कुमारगुप्त का पुत्र है, परंतु वह तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न है ! तुमसे उत्पन्न हुई संतान—छिः !

अनंतदेवी : क्या कहा ? समझकर कहना।

विजया : कहती हूं—और फिर कहूंगी। प्रलोभन से, धमकी से, भय से कोई भी मुझको भटार्क से वंचित नहीं कर सकता। प्रणय वंचिता स्त्रियां अपनी राह के रोड़े—विघ्नों को दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ़ होती हैं। हृदय को छीन लेने वाली स्त्री के प्रति हृतसर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के विस्फोट से बीभत्स और प्रलय की अनल-शिखा से भी लहरदार होती है। मुझे तुम्हारा सिंहासन नहीं चाहिए। मुझे क्षुद्र पुरगुप्त के विलासजर्जर मन और यौवन में ही जीर्ण शरीर का अवलंब वांछनीय नहीं। कह देती हूं, हट जाओ, नहीं तो तुम्हारी समस्त कुमंत्रणा को एक फूंक में उड़ा दूंगी।

अनंतदेवी : क्या ! इतना साहस ! तुच्छ स्त्री ! जानती है कि किसके साथ बात कर रही है ? मैं वही हूं—जो अश्वमेध-पराक्रम कुमारगुप्त से बालों को सुगंधित करने के लिए गंधचूर्ण जलवाती थी—जिसकी एक तीखी कोर से गुप्त-साम्राज्य डांवाडोल हो रहा है, उसे तुम···एक सामान्य स्त्री ! जा-जा, ले अपने भटार्क को, मुझे ऐसे कीट-पंतगों की आवश्यकता नहीं। परंतु स्मरण रखना, मैं हूं अनंतदेवी ! तेरी कूटनीति के कंटकित कानन की दावाग्नि—तेरे गर्व शैलशृंग का वज्र ! मैं वह आग लगाऊंगी, जो प्रलय के समुद्र से भी न बुझे। (**जाती है**)

विजया : मैं कहीं की न रही। इधर भयानक पिशाचों की लीला-भूमि, उधर गंभीर समुद्र ! दुर्बल रमणी—हृदय थोड़ी

आंच में गरम, और शीतल हाथ फेरते ही ठंडा ! क्रोध से अपने आत्मीय जनों पर विष उगल देना ! जिनको क्षमा की आवश्यकता है—जिन्हें स्नेह के पुरस्कार की वांछा है, उनकी भूल पर कठोर तिरस्कार और जो पराये हैं, उनके साथ दौड़ती हुई सहानुभूति ! यह मन का विष, यह बदलने वाले हृदय की क्षुद्रता है। ओह ! जब हम अनजान लोगों की भूल और दुखों पर क्षमा या सहानुभूति प्रकट करते हैं, तो भूल जाते हैं कि यहां मेरा स्वार्थ नहीं है। क्षमा और उदारता वहीं सच्ची है, जहां स्वार्थ की भी बलि हो। अपना अतुल धन और हृदय दूसरों के हाथ में देकर चलूं—कहां—किधर ? (**उन्मत्त भाव से प्रस्थान करना चाहती है**)

[**पदच्युत नायक का प्रवेश**]

नायक : शांत हो !

विजया : कौन ?

नायक : एक सैनिक !

विजया : दूर हो, मुझे सैनिकों से घृणा है।

नायक : क्यों सुंदरी ?

विजया : क्रूर ! केवल अपने झूठे मान के लिए, बनावटी बड़प्पन के लिए, अपना दंभ दिखलाने के लिए एक अनियंत्रित हृदय का लोहों से खेल विडंबना है ! किसकी रक्षा, किस दिन की सहायता के लिए तुम्हारे अस्त्र हैं ?

नायक : साम्राज्य की रक्षा के लिए !

विजया : झूठ—तुम सबको जंगली हिंस्र पशु होकर जन्म लेना था। डाकू ! थोड़े से ठीकरों के लिए अमूल्य मानव-जीवन का नाश करने वाले भयानक भेड़िये !

नायक : (स्वगत) पागल हो गयी है क्या ?

विजया : स्नेहमयी देवसेना का शंका से तिरस्कार किया, मिलते हुए स्वर्ग को घमंड से तुच्छ समझा, देव-तुल्य स्कंदगुप्त से

विद्रोह किया, किसलिए ? केवल अपना रूप, धन, यौवन दूसरे को दान करके उन्हें नीचा दिखाने के लिए ? स्वार्थपूर्ण मनुष्यों की प्रतारणा में पड़कर खो दिया—इस लोक का सुख, उस लोक की शांति ! ओह !

नायक : शांत हो !

विजया : शांत कहां ? अपनों को दंड देने के लिए मैं स्वयं उनसे अलग हुई, उन्हें दिखाने के लिए—'मैं भी कुछ हूं !' अपनी भूल थी, उसे अभिमान से उनके सिर दोष के रूप में मढ़ रखा था। उन पर झूठा अभियोग लगाकर, नीच हृदय को नित्य उत्तेजित कर रही थी। अब उसका फल मिला।

नायक : रमणी ! भूला हुआ लौट आता है, खोया मिल जाता है, परंतु जो जानबूझकर भूल-भुलैया तोड़ने के अभिमान से उसमें घुसता है, वह उसी चक्रव्यूह में स्वयं मरता है, दूसरों को भी मारता है। शांति का, कल्याण का—मार्ग उन्मुक्त है। द्रोह को छोड़ दो, स्वार्थ को विस्मृत करो, सब तुम्हारा है।

विजया : (सिसकती हुई) मैं अनाथ निस्सहाय हूं !

नायक : (बनावटी रूप उतारता है) मैं शर्वनाग हूं—सम्राट् का अनुचर ! मगध की परिस्थिति देखकर अपने विषय अंतर्वेद को लौट रहा हूं।

विजया : क्या अंतर्वेद के विषयपति शर्वनाग ?

शर्वनाग : हां, परंतु देश पर एक भीषण आतंक है। भटार्क की पिशाच लीला सफल होना चाहती है। विजया ! चलो, देश के प्रत्येक बच्चे, बूढ़े और युवक को उसकी भलाई में लगाना होगा, कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना होगा। आओ, यदि हम राज-सिंहासन न प्रस्तुत कर सकें तो हमें अधीर न होना चाहिए। हम देश की प्रत्येक गली को झाड़ू देकर ही इतना स्वच्छ कर दें कि उस पर चलने वाले राजमार्ग का सुख पावें !

विजया : (कुछ सोचकर) तुमने सच कहा ! सबको कल्याण के शुभागमन के लिए कटिबद्ध होना चाहिए । चलो—
(दोनों का प्रस्थान)

दृश्य : दो

[भटार्क का शिविर । नर्तकी गाती है]

भाव-निधि में लहरियां उठतीं तभी,
भूलकर भी जब स्मरण होता कभी ।
मधुर मुरली फूंक दी तुमने भला,
नींद मुझको आ चली थी बस अभी ।
सब रगों में फिर रही हैं बिजलियां,
नील नीरद ! क्या न बरसोगे कभी ?
एक झोंका और मलयानिल अहा !
क्षुद्र कालिका है खिली जाती अभी ।
कौन मर-मर जियेगा इस तरह,
यह समस्या हल न होगी क्या कभी ?

[कमला और देवकी का प्रवेश]

देवकी : भटार्क ! कहां है मेरा सर्वस्व ? बता दे—मेरे आनंद का उत्सव, मेरी आशा का सहारा—कहां है ?

भटार्क : कौन ?

कमला : कृतघ्न ! नहीं देखता है, यह वही देवी हैं—जिन्होंने तेरे नारकीय अपराध को क्षमा किया था—जिन्होंने तुझसे घिनौने कीड़े को भी मरने से बचाया था, वही—देव-प्रतिमा महादेवी देवकी ।

भटार्क : (पहचानकर) कौन—मेरी मां ?

कमला : तू कह सकता है । परंतु मुझे तुझको पुत्र कहने में संकोच होता है, लज्जा से गड़ी जा रही हूं । जिस जननी की संतान—जिसका अभागा पुत्र—ऐसा देशद्रोही हो, उसको

क्या मुख दिखाना चाहिए ? आह भटार्क !

भटार्क : राजमाता और मेरी माता !

देवकी : बता भटार्क ! वह आर्य्यावर्त्त का रत्न कहां है ? देश का बिना दाम का सेवक, वह जन-साधारण के हृदय का स्वामी—कहां है ? उससे शत्रुता करते हुए तुझे···

कमला : बोल दे भटार्क !

भटार्क : क्या कहूं—कुभा की क्षुब्ध लहरों से पूछो—हिमवान की गल जाने वाली बर्फ से पूछो कि वह कहां है—मैं नहीं···।

देवकी : आह ! गया मेरा स्कंद !! मेरा प्राण !!! (**गिरती है—मृत्यु**)

कमला : (**उसे सम्हालती हुई**) देख पिशाच—एक बार अपनी विजय पर प्रसन्नता से खिलखिला ले—नीच ! पुण्य-प्रतिमा को, स्त्रियों की गरिमा को, धूल में लोटता हुआ देखकर एक बार हृदय खोलकर हंस ले। हा देवी !

भटार्क : क्या ? (**भयभीत होकर देखता है**)

कमला : इस यंत्रणा और प्रतारणा से भरे हुए संसार की पिशाच-भूमि को छोड़कर अक्षय लोक को गयी, और तू जीता रहा—सुखी घरों में आग लगाने, हाहाकार मचाने और देश को अनाथ बनाकर उसकी दुर्दशा कराने के लिए—नरक के कीड़े ! तू जीता रहा !

भटार्क : मां अधिक न कहो। साम्राज्य के विरुद्ध कोई अपराध करने का मेरा उद्देश्य नहीं था, केवल पुरगुप्त को सिंहासन पर बिठाने की प्रतिज्ञा से प्रेरित होकर मैंने यह किया। स्कंद-गुप्त न सही, पुरगुप्त सम्राट् होगा।

कमला : अरे मूर्ख ! अपनी तुच्छ बुद्धि को सत्य मानकर, उसके दर्प में भूलकर, मनुष्य कितना बड़ा अपराध कर सकता है ! पामर ! तू सम्राटों का नियामक बन गया ? मैंने भूल की—सूतिका-गृह में ही तेरा गला घोंटकर क्यों न मार डाला ! आत्महत्या के अतिरिक्त अब कोई प्रायश्चित नहीं !

भटार्क : मां, क्षमा करो ! आज से मैंने शस्त्र-त्याग किया। मैं इस संघर्ष से अलग हूं, अब अपनी दुर्बुद्धि से तुम्हें कष्ट न पहुंचाऊंगा। **(तलवार डाल देता है)**

कमला : तूने विलंब किया भटार्क ! महादेवी—एक दिन जिसके नाम पर गुप्त-साम्राज्य नतमस्तक होता था, आज उनकी अंत्येष्टि-क्रिया के लिए कोई उपाय नहीं।···हा दुर्दैव !

भटार्क : **(ताली बजाता है, सैनिक आते हैं)** महादेवी की अंत्येष्टि-क्रिया राज-सम्मान से होनी चाहिए। चलो, शीघ्रता करो।

[देवकी के शव को एक ऊंचे स्थान पर दोनों मिलकर रखते हैं]

कमला : भटार्क ! इस पुण्य-चरण के स्पर्श से, संभव है, तेरा पाप छूट जाय।

[भटार्क और कमला पर तीव्र आलोक]

दृश्य : तीन

[काश्मीर न्यायाधिकरण में मातृगुप्त, एक स्त्री और दंडनायक]

मातृगुप्त : नंदीग्राम के दंडनायक—देवनंद ! यह क्या है ?

देवनंद : कुमारामात्य की जय हो ! बहुत परिश्रम करने पर भी मैं इस रमणी के अपहृत धन का पता न लगा सका। इसमें मेरा अपराध अधिक नहीं है।

मातृगुप्त : फिर किसका है ? तुम गुप्त-साम्राज्य का विधान भूल गये ? प्रजा की रक्षा के लिए 'कर' लिया जाता है। यदि तुम उनकी रक्षा न कर सके तो वह अर्थ तुम्हारी भृत्ति से कटकर इस रमणी को मिलेगा।

देवनंद : परंतु वह इतना अधिक है कि मेरे जीवन-भर की भृत्ति से भी उसका भरना असंभव है।

मातृगुप्त : तब राजकोष उसे देगा, और तुम उसका फल भोगोगे।

देवनंद : परंतु मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूं, इसमें मेरा अपराध अधिक नहीं है। यह श्रीनगर की सबसे अधिक समृद्धि-शालिनी वेश्या—अपने अंतरंग लोगों का परिचय भी नहीं बताती, फिर मैं कैसे पता लगाऊंगा ? गुप्तचर भी थक गये !

मातृगुप्त : हां, इसका नाम मैं भूल गया।

देवनंद : मालिनी !

मातृगुप्त : क्या ! मालिनी ? (**कुछ सोचता हुआ**) अच्छा, जाओ, कोषाध्यक्ष को भेज दो। (**देवनंद का प्रस्थान**)

मातृगुप्त : मालिनी ! अवगुंठन हटाओ, सिर ऊंचा करो, मैं अपना भ्रम-निवारण करना चाहता हूं। (**मालिनी अवगुंठन हटाकर मातृगुप्त की ओर देखती है। मातृगुप्त चकित होकर उसको देखता है**)

मातृगुप्त : तुम कौन हो—मालिनी ? छलना ! नहीं-नहीं, भ्रम है !

मालिनी : नहीं, मातृगुप्त मैं ही हूं। अवगुंठन केवल इसलिए था कि मैं इन्हें मुख नहीं दिखला सकती थी। मातृगुप्त ! मैं वही हूं।

मातृगुप्त : तुम ? नहीं, मेरी मालिनी ! मेरे हृदय की आराध्य देवी—वेश्या ! असंभव। परंतु नहीं, वही है मुख ! यद्यपि विलास ने उस पर अपनी मलिन छाया डाल दी है—उस पर अपने अभिशाप की छाप लगा दी है, पर तुम वही हो। हा दुर्दैव !

मालिनी : दुर्दैव !

मातृगुप्त : मैं आज तक तुम्हें पूजता था। तुम्हारी पवित्र स्मृति को कंगाल की निधि की भांति छिपाये रहा। मूर्ख मैं···आह मालिनी, मेरे शून्य भाग्याकाश के मंदिर का द्वार खोलकर तुम्हीं ने उनींदी उषा के सदृश झांका था, और मेरे भिखारी संसार पर स्वर्ण बिखेर दिया था—तुम्हीं ने मालिनी ! तुमने सोने के लिए नंदन का अम्लान कुसुम बेच डाला। जाओ मालिनी ! राजकोष से अपना धन ले लो।

मालिनी : (**मातृगुप्त के पैरों पर गिरती हुई**) एक बार क्षमा कर दो मातृगुप्त !

मातृगुप्त : मैं इतना दृढ़ नहीं हूं मालिनी, कि तुम्हें इस अपराध के कारण भूल जाऊं। पर वह स्मृति दूसरे प्रकार की होगी। उसमें ज्वाला न होगी। धुआं उठेगा और तुम्हारी मूर्ति धुंधली होकर सामने आवेगी ! जाओ।

[**मालिनी का प्रस्थान। चर का प्रवेश**]

चर : कुमारामात्य की जय हो !

मातृगुप्त : क्या समाचार है—सम्राट् का पता लगा ?

चर : नहीं। पंचनद हूणों के अधिकार में है, और वे काश्मीर पर भी आक्रमण किया चाहते हैं। (**चर का प्रस्थान**)

मातृगुप्त : तो सब गया ! मेरी कल्पना के सुंदर स्वप्नों का प्रभात हो रहा है। नाचती हुई नीहार-कणिकाओं पर तीखी किरणों के भाले ! ओह ! सोचा था कि देवता जागेंगे, एक बार आर्य्यावर्त के गौरव का सूर्य चमकेगा, और पुण्य-कर्मों से समस्त पाप-पंक धोये जायेंगे, हिमालय से निकली हुई सप्त-सिंधु तथा गंगा-यमुना की घाटियां किसी आर्य्य सत्गृहस्थ के स्वच्छ और पवित्र आंगन-सी, भूखी जाति के निर्वासित प्राणियों को अन्नदान देकर संतुष्ट करेंगी और आर्य्य जाति अपने दृढ़ सबल हाथों में शस्त्र ग्रहण करके पुण्य का पुरस्कार और पाप का विस्तार करती हुई, अचल हिमालय की भांति सिर ऊंचा किये, विश्व को सदाचरण के लिए सावधान करती रहेगी, आलस्य सिंधु में शेष पर्यंकशायी सुषुप्तिनाथ जागेंगे, सिंधु में हलचल होगी, रत्नाकार से रत्नराशियां आर्य्यावर्त की वेला-भूमि पर निछावर होंगी। उद्बोधन के गीत गाये-हृदय के उद्गार सुनाये जायेंगे—परंतु पासा पलटकर भी न पलटा। प्रवीर उदारे-हृदय स्कंदगुप्त कहां हैं ? तब काश्मीर ! तुझसे विदा ! (**प्रस्थान**)

दृश्य : चार

[नगर प्रांत के पथ में धातुसेन और प्रख्यातकीर्त्ति]

प्रख्यातकीर्ति : प्रिय वयस्य ! आज तुम्हें आये तीन दिन हुए, क्या सिंहल का राज्य तुम्हें भारत-पर्यटन के सामने तुच्छ प्रतीत होता है ?

धातुसेन : भारत समग्र विश्व का है, और संपूर्ण वसुंधरा इसके प्रेम-पाश में आबद्ध है। अनादि काल से ज्ञान की, मानवता की ज्योति वह विकीर्ण कर रहा है। वसुंधरा का हृदय—भारत—किस मूर्ख को प्यारा नहीं है ? तुम देखते नहीं कि विश्व का सबसे ऊंचा शृङ्ग इसके सिरहाने, और गंभीर तथा विशाल समुद्र इसके चरणों के नीचे हैं ? एक-से-एक सुंदर दृश्य प्रकृति ने अपने इस घर में चित्रित कर रखा है। भारत के कल्याण के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है; किंतु देखता हूं, बौद्ध जनता और संघ भी साम्राज्य के विरुद्ध हैं। महाबोधि-विहार के संघ महास्थविर ने निर्वाण-लाभ किया है, उस पद के उपयुक्त भारत-भर में केवल प्रख्यातकीर्त्ति है। तुमसे संघ की मलिनता बहुत-कुछ धुल जायेगी।

प्रख्यातकीर्त्ति : राजमित्र ! मुझे क्षमा कीजिए। मैं धर्म-लाभ करने के लिए भिक्षु हुआ हूं, महास्थविर बनने के लिए नहीं।

धातुसेन : मित्र ! मैं मातृगुप्त से मिलना चाहता हूं।

प्रख्यातकीर्त्ति : वह तो विरक्त होकर घूम रहा है।

धातुसेन : तुमको मेरे साथ काश्मीर चलना होगा।

प्रख्यातकीर्त्ति : पर अभी तो कुछ दिन ठहरोगे ?

धातुसेन : जहां तक संभव हो, शीघ्र चलो। (एक भिक्षु का प्रवेश)

भिक्षु : आचार्य ! महान् अनर्थ !

प्रख्यातकीर्त्ति : क्या है ? कुछ कहो भी !

भिक्षु : विहार के समीप जो चतुष्पथ का चैत्य है, वहां कुछ ब्राह्मण बलि किया चाहते हैं ! इधर भिक्षु और बौद्ध जनता

उत्तेजित है।

धातुसेन : चलो, हम लोग भी चलें—उन उत्तेजित लोगों को शांत करने का प्रयत्न करें। (**सब जाते हैं**)

दृश्य : पांच

[**विहार के समीप चतुष्पथ। एक ओर ब्राह्मण लोग बलि का उपकरण लिये, दूसरी ओर उत्तेजित भिक्षु और बौद्ध जनता। दंडनायक का प्रवेश**]

दंडनायक : नागरिकगण ! यह समय अंतर्विग्रह का नहीं। देखते नहीं हो कि साम्राज्य बिना कर्णधार का पोत होकर डगमगा रहा है, और तुम लोग क्षुद्र बातों को लिए परस्पर झगड़ते हो !

ब्राह्मण : इन्हीं बौद्धों ने गुप्त-शत्रु का काम किया है। कई बार के विताड़ित हूण इन्हीं लोगों की सहायता से पुनः आये हैं। इन गुप्त-शत्रुओं को कृतघ्नता का उचित दंड मिलना चाहिए।

श्रमण : ठीक है। गंगा, यमुना और सरयू के तट पर गड़े यज्ञयूप सद्धर्मियों की छाती में ठुकी हुई कीलों की तरह अब भी खटकते हैं। हम लोग निस्सहाय थे—क्या करते—विधर्मी विदेशी की शरण में भी यदि प्राण बच जायें और धर्म की रक्षा हो ! राष्ट्र और समाज मनुष्य के द्वारा बनते हैं—उन्हीं के सुख के लिए। जिस राष्ट्र और समाज से हमारी सुख-शांति में बाधा पड़ती हो—उसका हमें तिरस्कार करना ही होगा। इन संस्थाओं का उद्देश्य है—मानवों की सेवा। यदि वे हमीं से अवैध सेवा लेना चाहें और हमारे कष्टों को न हटावें, तो हमें उसकी सीमा के बाहर जाना ही पड़ेगा।

ब्राह्मण : ब्राह्मणों को इतनी हीन अवस्था में बहुत दिनों तक विश्व-

नियंता नहीं देख सकते। जो जाति विश्व के मस्तिष्क का शासन करने का अधिकार लिये उत्पन्न हुई है, वह कभी चरणों के नीचे न बैठेगी। आज यहां बलि होगी—हमारे धर्माचरण में स्वयं विधाता भी बाधा नहीं डाल सकते।

श्रमण : निरीह प्राणियों के वध में कौन-सा धर्म है—ब्राह्मण ? तुम्हारी इसी हिंसा-नीति और अहंकार मूलक आत्मवाद का खंडन तथागत ने किया था। उस समय तुम्हारा ज्ञान-गौरव कहां था ? क्यों नतमस्तक होकर समग्र जंबूद्वीप ने उस ज्ञान-रणभूमि के प्रधान मल्ल के समक्ष हार स्वीकार की ? तुम हमारे धर्म पर अत्याचार किया चाहते हो, यह नहीं हो सकेगा। इन पशुओं के बदले हमारी बलि होगी। रक्तपिपासु दुर्दर्त ब्राह्मणदेव ! तुम्हारी पिपासा हम अपने रुधिर से शांत करेंगे।

धातुसेन : (प्रवेश करके) अहंकारमूलक आत्मवाद का खंडन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी ? उपनिषदों के नेति-नेति से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है ? यह प्राचीन महर्षियों का कथित सिद्धांत, मध्यमा-प्रतिपदा के नाम से, संसार में प्रचारित हुआ, व्यक्तिरूप में आत्मा के सदृश कुछ नहीं है। वह एक सुधार था—उसके लिए रक्तपात क्यों ?

दंडनायक : देखो, यदि ये हठी लोग कुछ तुम्हारे समझाने से मान जायें, अन्यथा यहां बलि न होने दूंगा।

ब्राह्मण : क्यों न होने दोगे—अधार्मिक शासक ! क्यों न होने दोगे ? आज गुप्त कुचक्रों से गुप्त-साम्राज्य शिथिल है। कोई क्षत्रिय राजा नहीं जो ब्राह्मणों के धर्म की रक्षा कर सके—धर्माचरण के लिए अपने राजकुमारों को तपस्वियों की रक्षा में नियुक्त करे। आह धर्मदेव ! तुम कहां हो ?

धातुसेन : सप्तसिंधु प्रदेश नृशंस हूणों से पादाक्रांत है—जाति भीत

और त्रस्त है, और उसका धर्म असहाय अवस्था में पैरों से कुचला जा रहा है, क्षत्रिय राजा—धर्म का पालन करने वाला राजा—पृथ्वी पर क्यों नहीं रह गया ? आपने इसे विचारा है ? क्यों ब्राह्मण टुकड़ों के लिए अन्य लोगों की उपजीविका छीन रहे हैं ? क्यों एक वर्ण के लोग दूसरों की अर्थकरी वृत्तियां ग्रहण करने लगे हैं ? लोभ ने तुम्हारे धर्म का व्यवसाय चला दिया। दक्षिणाओं की योग्यता से—स्वर्ग, पुत्र, धर्म, यश, विजय और मोक्ष तुम बेचने लगे। कामना से अंधी जनता के विलासी-समुदाय के ढोंग के लिए तुम्हारा धर्म आवरण हो गया है। जिस धर्म के आचरण के लिए पुष्कल स्वर्ण चाहिए, वह धर्म जनसाधारण की संपत्ति नहीं ! धर्मवृक्ष के चारों ओर स्वर्ण के कांटेदार जाल फैलाये गये हैं और व्यवसाय की ज्वाला से वह दग्ध हो रहा है। जिन धनवानों के लिए तुमने धर्म को सुरक्षित रखा, उन्होंने समझा कि धर्म धन से खरीदा जा सकता है, इसीलिए धनोपार्जन मुख्य हुआ और धर्म गौण। जो पारस्यदेश की मूल्यवान मदिरा रात को पी सकता है, वह धार्मिक बने रहने के लिए प्रभात में एक गो-निष्क्रय भी कर सकता है। धर्म को बचाने के लिए तुम्हें राजशक्ति की आवश्यकता हुई। धर्म इतना निर्बल है कि वह पाशव बल के द्वारा सुरक्षित होगा।

ब्राह्मण : तुम कौन हो—मूर्ख उपदेशक ? हट जाओ—नास्तिक प्रच्छन्न बौद्ध ! तुमको क्या अधिकार है कि हमारे धर्म की व्याख्या करो ?

धातुसेन : ब्राह्मण क्यों महान् हैं ? इसीलिए कि वे त्याग और क्षमा की मूर्त्ति हैं। इसी के बल पर बड़े-बड़े सम्राट् उनके आश्रमों के निकट निरस्त्र होकर जाते थे, और वे तपस्वी—ऋत और अमृत-वृत्ति से जीवन-निर्वाह करते हुए सायं-प्रातः अग्नि-शाला में भगवान से प्रार्थना करते थे :

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात् ।।

—आज लोग उन्हीं ब्राह्मणों की संतान हैं, जिन्होंने अनेक यज्ञों को एक बार ही बंद कर दिया था। उनका धर्म समयानुकूल प्रत्येक परिवर्तन को स्वीकार करता है, क्योंकि मानव बुद्धि, ज्ञान का—जो वेदों के द्वारा हमें मिला है—प्रस्तार करेगी, उनके विकास के साथ बढ़ेगी और यही धर्म की श्रेष्ठता है।

प्रख्यातकीर्ति : धर्म के अंधभक्तो ! मनुष्य अपूर्ण है, इसलिए सत्य का विकास जो उसके द्वारा होता है, अपूर्ण होता है। यही विकास का रहस्य है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञान की वृद्धि असंभव हो जाये। प्रत्येक प्रचारक को कुछ-न-कुछ प्राचीन असत्य परंपराओं का आश्रय इसी से ग्रहण करना पड़ता है। सभी धर्म, समय और देश की स्थिति के अनुसार विवृत होते रहे हैं और होंगे। हम लोगों को हठ-धर्मिता से उन आगंतुक क्रमिक पूर्णता प्राप्त करने वाले ज्ञानों से मुंह न फेरना चाहिए। हम लोग एक ही मूल धर्म की दो शाखाएं हैं। आओ, हम दोनों विचार के फूलों से दुःख-दग्ध मानवों का कठोर पथ कोमल करें।

बहुत-से लोग : ठीक तो है—ठीक तो है, हम लोग व्यर्थ आपस में ही झगड़ते हैं और आततायियों को देखकर घर में घुस जाते हैं। हूणों के सामने तलवारें लेकर इसी तरह क्यों नहीं अड़ जाते ?

दंडनायक : यही तो बात है नागरिक !

प्रख्यातकीर्ति : मैं इस विहार का आचार्य हूं, और मेरी सम्मति धार्मिक झगड़ों में बौद्धों को माननी चाहिए। मैं जानता हूं कि भगवान ने प्राणिमात्र को बराबर बनाया है, और जीव-रक्षा इसीलिए धर्म है। किंतु जब तुम लोग स्वयं इसके लिए युद्ध करोगे तो हत्या की संख्या बढ़ेगी ही। अतः

यदि तुममें कोई सच्चा धार्मिक हो तो वह आगे आवे, और ब्राह्मणों से पूछे कि आप मेरी बलि देकर इतने जीवों को छोड़ सकते हैं। क्योंकि इन पशुओं से मनुष्यों का मूल्य ब्राह्मणों की दृष्टि में भी विशेष होगा। आइए, कौन आता है, किसे बोधिसत्व होने की इच्छा है। **(बौद्धों में से कोई नहीं हिलता)**

प्रख्यातकीर्ति : (हंसकर) यही आपका धर्मोन्माद था? एक युद्ध करने वाली मनोवृत्ति की प्रेरणा से उत्तेजित होकर अधर्म करना और धर्माचरण की दुंदुभी बजाना—यही आपकी करुणा की सीमा है? जाइए, घर लौट जाइए (**ब्राह्मण से**) आओ रक्तपिपासु धार्मिक! लो, मेरा उपहार देकर अपने देवता को संतुष्ट करो। **(सिर झुका लेता है)**

ब्राह्मण : (**तलवार फेंककर**) धन्य हो महाश्रमण! मैं नहीं जानता था कि तुम्हारे ऐसे धार्मिक भी इसी संघ में हैं। मैं बलि नहीं करूंगा।

[जनता में जय-जयकार। सब धीरे-धीरे जाते हैं)]

दृश्य : छह

[पथ में विजया और शोकमग्न मातृगुप्त]

विजया : नहीं कविवर! ऐसा नहीं।

मातृगुप्त : कौन, विजया?

विजया : आश्चर्य और शोक का समय नहीं है। सुकवि-शिरोमणि! गा चुके मिलन-संगीत, गा चुके कोमल कल्पनाओं के लचीले गान, रो चुके प्रेम के पचड़े? एक बार वह उद्‌बोधन-गीत गा दो कि भारतीय अपनी नश्वरता पर विश्वास करके अमर भारत की सेवा के लिए सन्नद्ध हो जाये।

मातृगुप्त : (**विकल भाव से**) देवि! तुम देवि···

विजया : हां, मातृगुप्त ! एक प्राण बचाने के लिए जिसने तुम्हारे हाथ में काश्मीर मंडल दे दिया था, आज तुम उसी सम्राट् को खोजते हो ! एक नहीं, ऐसे सहस्र स्कंदगुप्त, ऐसे सहस्रों देव-तुल्य उदार युवक इस जन्मभूमि पर उत्सर्ग हो जायें ! सुना दो वह संगीत—जिससे पहाड़ हिल जाये और समुद्र कांपकर रह जाये—अंगड़ाइयां लेकर मुचकुंद की मोह-निंदा से भारतवासी जाग पड़ें। हम-तुम गली-गली, कोने-कोने पर्यटन करेंगे, पैर पड़ेंगे, लोगों को जगावेंगे !

मातृगुप्त : वीर बाले ! तुम धन्य हो। आज से मैं यही करूंगा (**देखकर**) वह लो—चक्रपालित आ रहा है। (**चक्रपालित का प्रवेश**)

चक्रपालित : (**अन्यमनस्क भाव से**) लक्ष्मी की लीला, कमल के पत्तों पर जलबिंदु, आकाश के मेघ समारोह—अरे, इनसे भी क्षुद्र नीहारकणिकाओं की प्रभातलीला मनुष्य की अदृष्ट लिपि वैसी ही है, जैसी अग्निरेखाओं से कृष्णमेघ में बिजली की वर्णमाला—एक क्षण में प्रज्वलित, दूसरे क्षण में विलीन होने वाली ! भविष्यत् का अनुचर तुच्छ मनुष्य अतीत का स्वामी है।

मातृगुप्त : बंधु चक्रपालित !

चक्रपालित : कौन, मातृगुप्त ?

भीमवर्म्मा : (**विक्षिप्त-सा सहसा प्रवेश करके**) कहां है मेरा भाई, मेरे हृदय का बल, भुजाओं का तेज, वसुंधरा का शृंगार, वीरता का वरणीय—बंधु, मालव-मुकुट आर्य्य बंधुवर्म्मा ?

[**प्रख्यातकीर्ति और श्रमण का प्रवेश**]

प्रख्यातकीर्ति : सब पागल, लूटे गये-से अनाथ और आश्रयहीन—यही तो हैं ! आर्य्य-राष्ट्र के कुचले हुए अंकुर, भग्न, साम्राज्य-पोत के टूटे हुए पटरे और पतवार, ऐसे वीर हृदय ! ऐसे उदार !

मातृगुप्त : तुम कौन हो ?

प्रख्यातकीर्ति : संभवतः तुम्हीं मातृगुप्त हो !

मातृगुप्त : (**शंका से देखता हुआ**) क्यों, अहेरी कुत्तों के समान सूंघते हुए यहां भी ! परंतु तुम···

प्रख्यातकीर्ति : संदेह मत करो मातृगुप्त ! शैशव-सहचर कुमार धातुसेन की आज्ञा से मैं तुम लोगों को खोज रहा हूं। यह लो प्रमाण-पत्र।

मातृगुप्त : (**पढ़कर**) धन्य सिंहल के युवराज श्रमण ! कह देना, मैं आज्ञानुसार चलूंगा, और कनिष्क-चैत्य के समीप भेंट होगी।

प्रख्यातकीर्ति : कल्याण हो ! (**जाता है**)

विजया : कहां चलें हम लोग ?

मातृगुप्त : उसी जंगल में। (**सब लोग जाते हैं**)

दृश्य : सात

[**कमला की कुटी पर विचित्र अवस्था में स्कंदगुप्त का प्रवेश**]

स्कंदगुप्त : बौद्धों का निर्माण, योगियों की समाधि और पागलों की-सी संपूर्ण विस्मृति मुझे एकसाथ चाहिए। चेतना कहती है कि तू राजा है, और उत्तर में कोई कहता है कि तू खिलौना है—उसी खिलवाड़ी वटपत्रशायी बालक के हाथों का खिलौना है। तेरा मुकुट श्रमजीवी की टोकरी से भी तुच्छ है ! (**चिंतामग्न होता है**) करुणा-सहचर ! क्या जिस पर कृपा होती है, उसी को दुःख का अमोघ दान देते हो ? नाथ ! मुझे दुखों से भय नहीं, संसार के संकोचपूर्ण संकेतों की लज्जा नहीं। वैभव की जितनी कड़ियां टूटती हैं, उतना ही मनुष्य बंधनों से छूटता है, और तुम्हारी ओर अग्रसर होता है ! परंतु यह ठीकरा इसी पर फूटने को

था ! आर्य्य-साम्राज्य का नाश इन्हीं आंखों को देखना था। हृदय कांप उठता है, देशाभिमान गरजने लगता है। मेरा स्वत्व न हो—मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं, यह नीति और सदाचारों का महान आश्रय वृक्ष—गुप्त-साम्राज्य—हरा-भरा रहे और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो। ओह ! जाने दो, गया, सब कुछ गया ! मन बहलाने को कोई वस्तु न रही। कर्त्तव्य—विस्मृत, भविष्य—अंधकारपूर्ण, लक्ष्यहीन दौड़ और अनंत सागर का संतरण है।

बजा दो वेणु मन मोहन ! बजा दो !
हमारे सुप्त जीवन को जगा दो।
विमल स्वातंत्र्य का बस मंत्र फूंको।
हमें सब भीति-बंधन से छुड़ा दो।
सहारा उन अंगुलियों का मिले, हां ?
रसीले राग में मन को मिला दो।
तुम्हीं सब हो इसी की चेतना हो ?
इसे आनंदमय जीवन बना दो।

[प्रार्थना में झुकता है। उन्मत्त भाव से शर्वनाग का प्रवेश]

शर्वनाग : छीन लिया, गोद से छीन लिया, सोने के लोभ से मेरे लालों को शल के मांस की तरह सेंकने लगे। जिन पर विश्व-भर का भांडार लुटाने को मैं प्रस्तुत था, उन्हीं गुदड़ी के लालों को राक्षसों ने—हूणों ने—लुटेरों ने—लूट लिया। किसने आहों को सुना—भगवान ने ? नहीं, उस निष्ठुर ने नहीं सुना। देखते हुए भी न देखा। आते थे कभी एक पुकार पर, दौड़ते थे कभी आधी आह पर, अवतार लेते थे कभी आर्य्यों की दुर्दशा से दुखी होकर, अब नहीं। देश के हर कानन चिता बन रहे हैं। धधकती हुई नाश की प्रचंड ज्वाला दिग्दाह कर रही है।

अपने ज्वालामुखियों को बर्फ की मोटी चादर से छिपाये हिमालय मौन है, पिघलकर क्यों नहीं समुद्र से जा मिलता ? अरे जड़—मूक—बधिर—प्रकृति के टीले।

[उन्मत्त भाव से प्रस्थान]

स्कंदगुप्त : कौन है ? यह शर्वनाग है क्या ? क्या अंतर्वेद भी हूणों से पादाक्रांत हुआ ? अरे आर्य्यावर्त्त के दुर्दैव ! बिजली के अक्षरों से क्या भविष्यत् लिख रहा है भगवान ? इह अद्घोन्मत्त शर्व ! आर्य्य-साम्राज्य की हत्या का कैसा भयानक दृश्य है ! कितना बीभत्स है ! सिंहों की विहार-स्थली में शृगाल-वृंद सड़ी लोथ नोंच रहे हैं।

[पगली रामा का प्रवेश, स्कंद को देखकर]

रामा : लुटेरा है तू भी ! क्या लेगा, मेरी सूखी हड्डियां ? तेरे दांतों से टूटेगी ? देख तो—(**हाथ बढ़ाती है**)

स्कंदगुप्त : कौन ? रामा !

रामा : (**आश्चर्य से**) मैं रामा हूं ! हां, जिसकी संतान को हूणों ने पीस डाला। (**ठहरकर**) मेरी ? मेरी संतान ? इन अभागों की-सी वे नहीं थीं। वे तो तलवार की बारीक धार पर पैर फैलाकर सोना जानती थीं। धधकती हुई ज्वाला में हंसती हुई कूद पड़ती थीं। तुम (**देखती हुई**) लुटेरे भी नहीं, उहूं, कायर भी नहीं, अकर्म्मण्य बातों में भुलाने वाले—तुम कौन हो ? देखा था एक दिन ! वही तो है जिसने अपनी प्रचंड हुंकार से दस्युओं को कंपा दिया था, ठोकर मारकर सोई हुई अकर्म्मण्य जनता को जगा दिया था, जिसके नाल से रोयें खड़े हो जाते थे, भुजाएं फड़कने लगती थीं। वही स्कंद—रमणियों का रक्षक, बालकों का विश्वास, वृद्धों का आश्रय और आर्य्यावर्त्त की छत्रच्छाया। नहीं, भ्रम हुआ ! तुम निष्प्रभ, निस्तेज, उसी के मलिन चित्र-से तुम कौन हो ? (**प्रस्थान**)

स्कंदगुप्त : (**बैठकर**) आह ! मैं···मैं वही स्कंद हूं—अकेला,

निस्सहाय !

[कमला कुटी खोलकर बाहर निकलती है]

कमला : कौन कहता है, तुम अकेले हो ? समग्र संसार तुम्हारे साथ है। सहानुभूति को जाग्रत् करो। यदि भविष्यत् से डरते हो कि तुम्हारा पतन ही समीप है, तो तुम उस अनिवार्य स्रोत से लड़ जाओ। तुम्हारे प्रचंड और विश्वासपूर्ण पादाघात से विंध्य के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा जो उस विघ्न-स्रोत को लौटा देगा ! राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते ? समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझकर करता है, वही ईश्वर का अवतार है। उठो स्कंद ! आसुरी-वृत्तियों का नाश करो, सोने वालों को जगाओ और रोने वालों को हंसाओ। आर्य्यावर्त्त तुम्हारे साथ होगा और आर्य्यपताका के नीचे समग्र विश्व होगा—वीर !

स्कंदगुप्त : कौन तुम ? भटार्क की जननी ?

[नेपथ्य से क्रंदन—'बचाओ-बचाओ' का शब्द]

स्कंदगुप्त : कौन ? देवसेना का-सा शब्द ! मेरा खड्ग कहां है—(जाता है)

[देवसेना का पीछा करते हुए हूण का प्रवेश]

देवसेना : भीम ! भाई, मुझे इस अत्याचारी से बचाओ, कहां गये ?

हूण : कौन तुझे बचाता है ? (पकड़ना चाहता है, देवसेना छुरी निकालकर आत्महत्या किया चाहती है। पर्णदत्त सहसा एक ओर से आकर एक हाथ से हूण की गर्दन, दूसरे हाथ से देवसेना की छुरी पकड़ता है) क्षमा हो !

पर्णदत्त : अत्याचारी ! जा, तुझे छोड़ देता हूं। आ बेटी, हम लोग चलें, महादेवी की समाधि पर···

कमला : कहां, वहीं—कनिष्क के स्तूप के पास ?

देवसेना : हां, कौन कमला देवी ?

कमला : वही अभागिनी।

देवसेना : अच्छा, जाती हूं, फिर मिलूंगी।

[पर्णदत्त के साथ देवसेना का प्रस्थान। स्कंदगुप्त का प्रवेश]

स्कंदगुप्त : कोई नहीं मिला। कहां से वह पुकार आयी थी? मेरा हृदय व्याकुल हो उठा है। सच्चे मित्र बंधुवर्म्मा की धरोहर! ओह!

कमला : वह सुरक्षित है, घबराइए नहीं। कनिष्क के स्तूप के पास आपकी माता की समाधि है, वहीं पर पहुंचा दी गयी है।

स्कंदगुप्त : मां! मेरी जननी! तू भी न रही! हा!

[मूर्च्छित होता है, कमला उसे कुटी में उठा ले जाती है।]

[पटाक्षेप]

पंचम अंक

दृश्य : एक

[पथ में मुद्गल]

मुद्गल : राजा से रंक और ऊपर से नीचे; अभी दुर्वृत्त दानव, अभी स्नेह संवलित मानव, कहीं वीणा की झनकार, कहीं दीनता का तिरस्कार। (**सिर पर हाथ रखकर बैठ जाता है**) भाग्यचक्र ! तेरी बलिहारी ! जयमाला यह सुनकर कि बंधुवर्म्मा वीरगति को प्राप्त हुए, सती हो गयी, और देवसेना को लेकर बूढ़ा पर्णदत्त देवकुलिक-सा महादेवी की समाधि पर जीवन व्यतीत कर रहा है। चक्रपालित, भीमवर्म्मा और मातृगुप्त राजाधिराज को खोज रहे हैं, सब विक्षिप्त ! सुना है कि विजया का मन कुछ फिरा है, वह भी इन्हीं लोगों के साथ मिली है, परंतु उस पर विश्वास करने को मन नहीं करता। अनंतदेवी ने पुरगुप्त के साथ हूणों से संधि कर ली है, मगध में महादेवी और परम भट्टारक बनने का अभिनय हो रहा है। सम्राट् की उपाधि है 'प्रकाशादित्य' परंतु प्रशासन में स्थान-स्थान पर अंधेरा है। आदित्य में गर्मी नहीं। सिंहासन के सिंह सोने के हैं। समस्त भारत हूणों के चरणों में लौट रहा है और भटार्क मूर्ख की बुद्धि के समान अपने कर्मों पर पश्चात्ताप कर रहा है। (**सामने देखकर**) वह विजया आ

रही है ! तो हट चलूं। (उठकर जाना चाहता है)

विजया : अरे मुद्गल ! जैसे पहचानता ही न हो। सच है, समय बदलने पर लोगों की आंखें भी बदल जाती हैं।

मुद्गल : तुन कौन हो जी ? बे जान-पहचान की छेड़-छाड़ अच्छी नहीं लगती, और तिस पर मैं हूं ज्योतिषी। जहां देखो, वहीं यह प्रश्न होता है, मुझे उन बातों के सुनने में भी संकोच होता है—मुझसे रूठे हुए हैं ? किसी दूसरे पर उनका स्नेह है ? वह सुंदरी कब मिलेगी ? मिलेगी या नहीं ?—इस देश के छबीले छैल और रसीली छोकरियों ने यही प्रश्न गुरु जी से पाठ में पढ़ा है। अभिसार के लिए मुहूर्त पूछे जाते हैं।

विजया : क्या मुद्गल ! मुझे पहचान लेने का भी तुम्हें अवकाश नहीं है ?

मुद्गल : अवकाश हो या नहीं, मुझे आवश्यकता नहीं।

विजया : क्या आवश्यकता न होने से मनुष्य—मनुष्य से बात न करे ? सच है, आवश्यकता ही संसार के व्यवहारों की दलाल है। परंतु मनुष्यता भी कोई वस्तु है मुद्गल !

मुद्गल : उसका नाम न लो। जिस हृदय में अखंड वेग है, तीव्र तृष्णा से जो पूर्ण हैं, और जो क्रूरताओं का भांडार है, जो अपने सुख—अपनी तृप्ति के लिए संसार में सब कुछ करने को प्रस्तुत है, उसका मनुष्यता से क्या संबंध ?

विजया : न सही, परंतु इतना तो बता सकोगे, सम्राट् स्कंदगुप्त से कहां भेंट होगी ? क्योंकि यह पता चला है कि वे जीवित हैं।

मुद्गल : क्या तुम महाराज से भेंट करोगी, किस मुंह से ? अवंती में एक दिन यह बात सब जानते थे कि विजया महादेवी होगी।

विजया : उसी एक दिन के बदले मुद्गल, आज मैं फिर कुछ कहना चाहती हूं। वही एक दिन का अतीत आज तक का भविष्य

छिपाये था।

मुद्गल : तुम्हारा साहस तो कम नहीं है !

विजया : मुद्गल ! बता दोगे ?

मुद्गल : तुम विश्वास के योग्य नहीं। अच्छा, अब और तुम क्या कर लोगी ? देवसेना के साथ जहां पर्णदत्त रहते हैं, आज कमला देवी के कुटीर से सम्राट् वहीं अपनी जननी की समाधि पर जाने वाले हैं—उसी कनिष्क-स्तूप के पास ! अच्छा, जाता हूं। देखो विजया ! मैंने बता तो दिया—पर सावधान ! (**जाता है**)

विजया : उसने ठीक कहा। मुझे स्वयं अपने पर विश्वास नहीं। स्वार्थ में ठोकर लगते ही मैं परमार्थ की ओर दौड़ पड़ी, परंतु क्या यह सच्चा परिवर्तन है ? क्या मैं अपने को भूलकर देश-सेवा कर सकूंगी ? क्या देवसेना···ओह ! फिर मेरे सामने वही समस्या ! आज तो स्कंदगुप्त सम्राट् नहीं हैं, प्रतिहिंसे—सो जा ! क्या कहा ? नहीं, देवसेना ने एक बार मूल्य देकर खरीदा था—विजया भी एक बार वही करेगी। देश-सेवा तो होगी ही, यदि मैं अपनी भी कामना पूरी कर सकती ! मेरा रत्न-गृह अभी बचा है, उसे सेना-संकलन करने के लिए सम्राट् को दूंगी, और एक बार बनूंगी महादेवी ! क्या नहीं होगा ? अवश्य होगा। अदृष्ट ने इसीलिए उस रक्षित रत्न-गृह को बचाया है। उससे एक साम्राज्य ले सकती हूं ! तो आज वही करूंगी, और उसमें दोनों होंगे—स्वार्थ और परमार्थ ! (**प्रस्थान। भटार्क का प्रवेश**)

भटार्क : अपने कुकर्मों का फल चखने में कड़वा, परंतु परिणाम में मधुर होता है। ऐसा वीर, ऐसा उपयुक्त और ऐसा परोपकारी सम्राट् ! परंतु गया—मेरी ही भूल से सब गया। आज भी वे शब्द सामने आ जाते हैं, जो उस बूढ़े अमात्य ने कहे थे—'भटार्क, सावधान ! जिस काल-भुजंगी

राष्ट्रनीति को लेकर तुम खेल रहे हो, प्राण देकर भी उसकी रक्षा करना ।' हाय ! न हम उसे वश में कर सके और न तो उससे अलग हो सके। मेरी उच्च आकांक्षा, वीरता का दंभ, पाखंड की सीमा तक पहुंच गया। अनंतदेवी—एक क्षुद्र नारी—उसके कुचक्र में—आशा के प्रलोभन में, मैंने सब बिगाड़ दिया। सुना है कि यहीं कहीं स्कंदगुप्त भी हैं, चलूं, उस महत् का दर्शन तो कर लूं ! (**प्रस्थान**)

दृश्य : दो

[**कनिष्क-स्तूप के पास महादेवी की समाधि। अकेले पर्णदत्त टहलते हुए**]

पर्णदत्त : सूखी रोटियां बचाकर रखनी पड़ती हैं। जिन्हें कुत्तों को देते हुए संकोच होता था, उन्हीं कुत्सित अन्नों का संचय ! अक्षय-निधि के समान उन पर पहरा देता हूं ! मैं रोऊंगा नहीं, परंतु यह रक्षा क्या केवल जीवन का बोझ वहन करने के लिए है ? नहीं, पर्ण ! रोना मत। एक बूंद भी आंसू आंखों में न दिखायी पड़े। तुम जीते रहो—तुम्हारा उद्देश्य सफल होगा। भगवान् यदि होंगे, तो कहेंगे कि मेरी सृष्टि में एक सच्चा हृदय था। संतोष कर उछलते हुए हृदय—संतोष कर, तू रोटियों के लिए नहीं जीता है, तू उसकी भूल दिखाता है जिसने तुझे उत्पन्न किया है। परंतु जिस काम को कभी नहीं किया—उसे करते नहीं बनता—स्वांग भरते नहीं बनता, देश के बहुत-से दुर्दशा-ग्रस्त वीर-हृदयों की सेवा के लिए करना पड़ेगा। मैं क्षत्रिय हूं: मेरा यह पाप ही आपद्धर्म होगा—साक्षी रहना भगवान् !

[**एक नागरिक का प्रवेश**]

पर्णदत्त : बाबा ! कुछ दे दो।

नागरिक : और तुम्हारी वह कहां गयी—वह··· (संकेत करता है)

पर्णदत्त : मेरी बेटी स्नान करने गयी है। बाबा, कुछ दे दो !

नागरिक : मुझे उनका गान बड़ा प्यारा लगता है, अगर वह गाती, तो तुम्हें कुछ अवश्य मिल जाता। अच्छा, फिर आऊंगा (जाता है)

पर्णदत्त : (दांत पीसकर) नीच, दुरात्मा, विलास का नारकीय कीड़ा ! बालों को संवारकर, अच्छे कपड़े पहनकर, अब भी घमंड से तना हुआ निकलता है। कुलवधुओं का अपमान सामने देखते हुए भी अकड़कर चल रहा है, अब तक विलास और नीच वासना नहीं गयी ! जिस देश के नवयुवक ऐसे हों, उसे अवश्य दूसरों के अधिकार में जाना चाहिए। देश पर यह विपत्ति, फिर भी यह निराली धज !

देवसेना : (प्रवेश करके) क्या बाबा, क्यों चिढ़ रहे हो ! जाने दो। जिसने नहीं दिया, उसने अपना, कुछ तुम्हारा तो नहीं ले गया।

पर्णदत्त : अपना ! देवसेना ! अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का। प्रकृति ने उन्हें हमारे लिए —हम भूखों के लिए—रख छोड़ा है। वह थाती है—उसे लौटाने में इतनी कुटिलता ! विलास के लिए उनके पास पुष्कल धन है, और दरिद्रों के लिए नहीं ? अन्याय का समर्थन करते हुए तुम्हें भूल न जाना चाहिए कि···

देवसेना : बाबा ! क्षमा करो। जाने दो, कोई तो देगा।

पर्णदत्त : हमारे ऊपर सैकड़ों अनाथ वीरों के बालकों का भार है, बेटा ! ये युद्ध में मरना जानते हैं, परंतु भूख से तड़पते हुए उन्हें देखकर आंखों से रक्त गिर पड़ता है।

देवसेना : बाबा ! महादेवी की समाधि स्वच्छ करती हुई आ रही हूं। कई दिनों से भीम नहीं आया, मातृगुप्त भी नहीं, सब कहां हैं ?

पर्णदत्त : आवेंगे बेटी ! तुम बैठो, मैं अभी आता हूं। (**प्रस्थान**)

देवसेना : संगीत-सभा की अंतिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीण गंध-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ और उत्सव के पीछे का अवसाद, इन सबों की प्रतिकृति—मेरा क्षुद्र नारी-जीवन ! मेरे प्रिय गान ! अब क्या गाऊं और क्या सुनाऊं ? इन बार-बार के गाये हुए गीतों में क्या आकर्षण है—क्या बल है जो खींचता है ? केवल सुनने की ही नहीं, प्रत्युत् जिसके साथ अनंतकाल तक कंठ मिला रखने की इच्छा जग जाती है—(**गाती है**)

शून्य गगन में खोजता जैसे चंद्र निराश,
राका में रमणीय यह किसका मधुर प्रकाश।
हृदय ! तू खोजता किसको छिपा है कौन-सा तुझमें,
मचलता है बता क्या दूं छिपा तुझसे न कुछ मुझमें।
रस-निधि में जीवन रहा, मिटी न फिर भी प्यास,
मुंह खोले मुक्तामयी सीपी स्वाती आस।
हृदय ! तू है बना जलनिधि लहरियां खेलती तुझमें,
मिला अब कौन-सा नवरत्न जो पहले न था तुझमें।

[**प्रस्थान। वेश बदले हुए स्कंदगुप्त का प्रवेश**]

स्कंदगुप्त : जननी ! तुम्हारी पवित्र स्मृति को प्रणाम ! (**समाधि के समीप घुटने टेककर फूल चढ़ाते हुए**) मां, अंतिम बार आशीर्वाद नहीं मिला, इसी से यह कष्ट—यह अपमान ! मां तुम्हारी गोद में पलकर भी तुम्हारी सेवा न कर सका —यह अपराध क्षमा करो।

[**देवसेना का प्रवेश**]

देवसेना : (**पहचानती हुई**) कौन ? अरे—सम्राट् की जय हो !

स्कंदगुप्त : देवसेना !

देवसेना : हां, राजाधिराज ! धन्य भाग्य, आज दर्शन हुए !

स्कंदगुप्त : देवसेना ! बड़ी-बड़ी कामनाएं थीं।

देवसेना : सम्राट् !

स्कंदगुप्त : क्या तुमने यहां कोई कुटी बना ली है ?

देवसेना : हां, यहीं गाकर भीख मांगती हूं, और आर्य पर्णदत्त के साथ रहती हुई महादेवी की समाधि परिष्कृत करती हूं।

स्कंदगुप्त : मालवेश-कुमारी देवसेना ! तुम, और यह कर्म ? समय जो चाहे करा ले ! कभी हमने भी तुम्हें अपने काम का बनाया था ! देवसेना, यह सब मेरा प्रायश्चित है। आज मैं बंधुवर्म्मा की आत्मा को क्या उत्तर दूंगा ? जिसने निःस्वार्थ भाव से सब कुछ मेरे चरणों में अर्पित कर दिया था, उससे कैसे उऋण होऊंगा ? मैं यह सब देखता हूं—और, जीता हूं।

देवसेना : मैं अपने लिए ही नहीं मांगती देव ! आर्य पर्णदत्त ने साम्राज्य के बिखरे हुए सब रत्न एकत्र किये हैं, वे सब निरावलंब हैं ! किसी के पास टूटी हुई तलवार ही बची है, तो किसी के जीर्ण वस्त्र-खंड ! उन सबकी सेवा इसी आश्रम में होती है।

स्कंदगुप्त : वृद्ध पर्णदत्त—तात पर्णदत्त ! तुम्हारी यह दशा ? जिनके लोहे से आग बरसती थी, वह जंगल की लकड़ियां बटोर-कर आग सुलगाता है ! देवसेना ! अब इसका कोई काम नहीं। चलो, महादेवी की समाधि के सामने प्रतिश्रुत हों, हम-तुम अब अलग न होंगे ! साम्राज्य तो नहीं है। मैं बचा हूं, वह, अपना ममत्व तुम्हें अर्पित करके उऋण होऊंगा, और एकांतवास करूंगा !

देवसेना : सो न होगा सम्राट् ! मैं दासी हूं ! मालव ने देश के लिए उत्सर्ग किया है, उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का अपमान न करूंगी। सम्राट् ! देखो, यहीं पर सती जयमाला की छोटी-सी समाधि है, उसके गौरव की रक्षा होनी चाहिए।

स्कंदगुप्त : देवसेना ! बंधुवर्म्मा की भी तो यही अच्छी थी।

देवसेना : परंतु क्षमा हो सम्राट् ! उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे, अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्त्व को कलंकित न

करूंगी ! मैं आजीवन दासी बनी रहूंगी; आपके प्राप्य में भाग न लूंगी।

स्कंदगुप्त : देवसेना ! एकांत में किसी कानन के कोने में तुम्हें देखता हुआ, जीवन व्यतीत करूंगा ! साम्राज्य की इच्छा नहीं—एक बार कह दो !

देवसेना : तब तो और भी नहीं ! मालव का महत्त्व रहेगा ही, परंतु उसका उद्देश्य भी सफल होना चाहिए। आपको अकर्म्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी ! सम्राट्, क्षमा हो ! इस हृदय में—आह ! कहना ही पड़ा, स्कंदगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायेगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिए, उसे कामना के भंवर में फंसाकर कलुषित न कीजिए। नाथ ! मैं आपकी ही हूं, मैंने अपने को दे दिया, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती।

(स्कंद के पैरों पर गिरती है)

स्कंदगुप्त : **(आंसू पोंछता हुआ)** उठो देवसेना ! तुम्हारी विजय हुई। आज से मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि मैं कुमार-जीवन ही व्यतीत करूंगा। मेरी जननी की समाधि इसमें साक्षी है।

देवसेना : हैं, हैं—यह क्या किया !

स्कंदगुप्त : कल्याण का श्रीगणेश ! यदि साम्राज्य का उद्धार कर सका—तो उसे पुरगुप्त के लिए निष्कंटक छोड़ सकूंगा।

देवसेना : **(निःश्वास लेकर)** देवव्रत ! तुम्हारी जय हो ! जाऊं आर्य्य, पर्णदत्त को लिवा लाऊं।

[प्रस्थान। विजया का प्रवेश]

विजया : इतना रक्तपात और इतनी ममता, इतना मोह—जैसे सरस्वती के शोणित जल में इंदीवर का विकास ! इसी कारण अब मैं भी मरती हूं। मेरे स्कंद ! मेरे प्राणाधार !

स्कंदगुप्त : **(घूमकर)** यह कौन, इंद्रजाल-मंत्र ? अरे विजया !

विजया : हां, मैं ही हूं।

स्कंदगुप्त : तुम कैसे ?

विजया : तुम्हारे लिए मेरे अंतस्तल की आशा जीवित है।

स्कंदगुप्त : नहीं विजया ! उस खेल को खेलने की इच्छा नहीं। यदि दूसरी बात हो तो कहो। उन बातों को रहने दो।

विजया : नहीं, मुझे कहने दो (**सिसकती हुई**) मैं अब भी···

स्कंदगुप्त : चुप रहो विजया ! यह मेरी आराधना की—तपस्या की भूमि है, इसे प्रवंचना से कलुषित न करो। तुमसे यदि स्वर्ग भी मिले तो मैं उससे दूर रहना चाहता हूं।

विजया : मेरे पास दो रत्न-गृह छिपे हैं, जिनसे सेना एकत्र करके तुम सहज ही उन हूणों को परास्त कर सकते हो।

स्कंदगुप्त : परंतु साम्राज्य के लिए मैं अपने को बेच नहीं सकता। विजया, चली जाओ, इस निर्लज्ज प्रलोभन की आवश्यकता नहीं। यह प्रसंग यहीं तक !

विजया : मैंने देशवासियों को सन्नद्ध करने का संकल्प किया है, और भटार्क का प्रसंग छोड़ दिया है। तुम्हारी सेवा के उपयुक्त बनने का उद्योग कर रही हूं। मैं मालव और सौराष्ट्र को तुम्हारे लिए स्वतंत्र करा दूंगी, अर्थलोभी हूण-दस्युओं से उसे छुड़ा लेना मेरा काम है। केवल तुम स्वीकार कर लो।

स्कंदगुप्त : विजया, मुझे इतना लोभी समझ लिया है ? मैं सम्राट् बनकर सिंहासन पर बैठने के लिए नहीं हूं। शस्त्र-बल से शरीर देकर भी यदि हो सका तो जन्मभूमि का उद्धार कर लूंगा। सुख के लोभ से, मनुष्य के भय से मैं उत्कोच देकर साम्राज्य नहीं चाहता।

विजया : क्या जीवन के प्रत्यक्ष सुखों से तुम्हें वितृष्णा हो गयी ? आओ, हमारे साथ बचे हुए जीवन का आनंद लो !

स्कंदगुप्त : और असहाय दीनों को राक्षसों के हाथ, उनके भाग्य पर छोड़ दूं ?

विजया : कोई दुःख भोगने के लिए है, कोई सुख। फिर सबका बोझ अपने सिर पर लादकर क्यों व्यस्त होते हो ?

स्कंदगुप्त : परंतु इस संसार का कोई उद्देश्य है। इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है, इसी पर देवताओं का निवास होगा, विश्व-नियंता का ऐसा ही उद्देश्य मुझे विदित होता है। फिर उसकी इच्छा क्यों न पूर्ण करूं, विजया ? मैं कुछ नहीं हूं, उसका अस्त्र हूं—परमात्मा का अमोघ अस्त्र हूं। मुझे उसके संकेत पर केवल अत्याचारियों के प्रति प्रेरित होना है। किसी से मेरी शत्रुता नहीं, क्योंकि मेरी निज की कोई इच्छा नहीं। देशव्यापी हलचल के भीतर कोई शक्ति कार्य कर रही है, पवित्र प्राकृतिक नियम अपनी रक्षा करने के लिए स्वयं सन्नद्ध हैं। मैं उसी ब्रह्मचक्र का एक—

विजया : रहने दो यह थोथा ज्ञान—प्रियतम ! यह भरा हुआ यौवन और प्रेमी-हृदय विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत है। उन्मुक्त आकाश के नील-नीरद मंडल में दो बिजलियों के समान क्रीड़ा करते-करते हम लोग तिरोहित हो जायें। और उस क्रीड़ा में तीव्र आलोक हो, जो हम लोगों के विलीन हो जाने पर भी जगत् की आंखों को थोड़े काल के लिए बंद कर रखे। स्वर्ग की कल्पित अप्सराएं और इस लोक के अनंत पुण्य के भागी जीव भी—जिस सुख को देखकर आश्चर्यचकित हों, वही मादक सुख, घोर आनंद, विराट् विनोद हम लोगों का आलिंगन करके धन्य हो जाये—

अगुरु-धूम की श्याम लहरियां उलझी हों इन अलकों से,
व्याकुलता लाली के डोरे इधर फंसे हों पलकों से।
व्याकुल बिजली-सी तुम मचली आर्द्र-हृदय-घनमाला से,
आंसू बरुनी से उलझे हों, अधर प्रेम के प्याला से।
इस उदास मन की अभिलाषा अंटकी रहे प्रलोभन से,
व्याकुलता सौ-सौ बल खाकर उलझ रही हो जीवन से।
छवि-प्रकाश-किरणें उलझी हों जीवन के भविष्य तम से,
ये लायेंगी रंग सुलालित होने दो कंपन सम से।

इस आकुल जीवन की घड़ियां इन निष्ठुर आघातों से,
बजा करें अगणित यंत्रों से सुख-दुःख के अनुपातों से।
उखड़ी सांसें उलझ रही हों धड़कन से कुछ परिमित हो,
अनुनय उलझ रहा हो तीखे तिरस्कार से लांछित हो।
यह दुर्बल दीनता रहे उलझी फिर चाहो ठुकराओ,
निर्दयता के इन चरणों से, जिसमें तुम भी सुख पाओ।

[स्कंद के पैरों को पकड़ती है]

स्कंदगुप्त : (**पैर छुड़ाकर**) विजया ! पिशाची ! हट जा ! नहीं जानती, मैंने आजीवन कौमार्य-व्रत की प्रतिज्ञा की है ?

विजया : तो क्या मैं फिर हारी ?

[भटार्क का प्रवेश। विजया स्तब्ध होती है]

भटार्क : निर्लज्ज हारकर भी नहीं हारता, मरकर भी नहीं मरता।

विजया : कौन, भटार्क ?

भटार्क : हां, तेरा पति भटार्क ! दुश्चरित्रे ! सुना था कि तुझे देश-सेवा करके पवित्र होने का अवसर मिला है, परंतु हिंस्र पशु कभी एकादशी का व्रत करेगा—पिशाची कभी शांति-पाठ पढ़ेगी ?

विजया : (**सिर नीचा करके**) अपराध हुआ।

भटार्क : फिर भी किसके साथ ? जिस पर अत्याचार करके मैं भी लज्जित हूं—जिससे क्षमा-याचना करने मैं आ रहा था ? नीच स्त्री !

विजया : घोर अपमान, तो बस··· (**छुरी निकालकर आत्महत्या करती है**)

स्कंदगुप्त : भटार्क, इसके शव का संस्कार करो।

भटार्क : देव ! मेरी भी लीला समाप्त है—(**छुरी निकालकर अपने को मारना चाहता है। स्कंदगुप्त हाथ पकड़ लेता है**)

स्कंदगुप्त : तुम वीर हो, इस समय देश को वीरों की आवश्यकता है। तुम्हारा यह प्रायश्चित नहीं। रणभूमि में प्राण देकर जननी जन्मभूमि का उपकार करो। भटार्क ! यदि कोई साथी

न मिला तो साम्राज्य के लिए नहीं—जन्मभूमि के उद्धार के लिए—मैं अकेला युद्ध करूंगा और तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी होगी, पुरगुप्त को सिंहासन देकर मैं वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करूंगा। आत्महत्या के लिए जो अस्त्र तुमने ग्रहण किया है, उसे शत्रु के लिए सुरक्षित रखो।

भटार्क : (**स्कंद के सामने घुटने टेककर**) श्री स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की जय हो ! जो आज्ञा होगी, वही करूंगा।

स्कंदगुप्त : (**प्रस्थान करते**) पहले इस शव का प्रबंध होना चाहिए।

भटार्क : (**स्वगत**) इस घृणित शव का अग्नि-संस्कार करना ठीक नहीं, लाओ, इसे यहीं गाड़ दूं। (**भूमि खोदते समय एक भयानक शब्द के साथ रत्न-गृह का प्रकट होना और भटार्क का प्रसन्न होकर पुकारना। स्कंदगुप्त का आकर रत्न-गृह देखना**)

स्कंदगुप्त : भटार्क ! यह तुम्हारा है।

भटार्क : हां, सम्राट् ! यह हमारा है, इसलिए देश का है। आज से मैं सेना-संकलन में लगूंगा।

स्कंदगुप्त : वह दूर पर बड़ी भीड़ हो रही है – स्तूप के पास।

भटार्क : नागरिकों का उत्सव है। (**रत्न-गृह बंद करके**) चलिए, देखूं।

दृश्य : तीन

[**स्तूप का एक पार्श्व। नागरिकों का आवागमन। उन्हीं में वेश बदले हुए मातृगुप्त, भीमवर्मा, चक्रपालित, शर्वनाग, कमला, रामा इत्यादि का और दूसरी ओर से वृद्ध पर्णदत्त का हाथ पकड़े हुए देवसेना का प्रवेश**]

एक नागरिक : अरे, वह छोकरी आ गयी, इससे कुछ सुना जाये !

अन्य नागरिक : हां रे छोकरी ! कुछ गा तो।

पर्णदत्त : भीख दो बाबा ! देश के बच्चे भूखे हैं, असहाय हैं—कुछ दे दो बाबा !

अन्य नागरिक : अरे गाने भी दे बूढ़े !

पर्णदत्त : हाय रे अभागे देश ! (**देवसेना गाती है**)

देश की दुर्दशा निहारोगे, डूबते को कभी उबारोगे ?
हारते ही रहे, न है कुछ अब, दांव पर आपको न हारोगे ?
कुछ करोगे कि बस सदा रोकर, दीन हो दैव को पुकारोगे ?
सो रहे तुम, न भाग्य सोता है, आप बिगड़ी तुम्हीं सँवारोगे !
दीन जीवन बिता रहे अब तक, क्या हुए जा रहे, विचारोगे ?

पर्णदत्त : नहीं बेटी, निर्लज्ज कभी विचार नहीं करेंगे ।

चक्र० और भीम० : आर्य पर्णदत्त की जय !

पर्णदत्त : मुझे जय नहीं चाहिए—भीख चाहिए । जो दे सकता हो अपने प्राण, जो जन्मभूमि के लिए उत्सर्ग कर सकता हो जीवन, वैसे वीर चाहिए, कोई देगा भीख में ?

स्कंदगुप्त : (भीड़ से निकलकर) मैं प्रस्तुत हूं तात !

भटार्क : श्री स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की जय हो !

[**नागरिकों में से बहुत-से युवक निकल पड़ते हैं**]

सब : हम हैं, हम आपकी सेवा के लिए प्रस्तुत हैं ।

स्कंदगुप्त : आर्य पर्णदत्त !

पर्णगुप्त : आओ वत्स—सम्राट् ! (**आलिंगन करता है**)

[**उत्साह से जनता पूजा के फूल बरसाती है । चक्रपालित, भीमवर्म्मा, मातृगुप्त, शर्वनाग, कमला, रामा—सबका प्रकट होना । तुमुल जयनाद**]

दृश्य : चार

[**महाबोधि विहार में अनंतदेवी, पुरगुप्त, प्रख्यातकीर्ति, हूण-सेनापति**]

अनंतदेवी : इसका उत्तर महाश्रमण देंगे ।

हूण-सेनापति : मुझे उत्तर चाहिए—चाहे कोई दे ।

प्रख्यातकीर्ति : सेनापति ! मुझसे सुनो, समस्त उत्तरापथ का बौद्ध-संघ जो

तुम्हारे उत्कोच के प्रलोभन में भूल गया था—वह अब न होगा।

हूण-सेनापति : तभी बौद्ध जनता से जो सहायता हूण-सैनिकों को मिलती थी, बंद हो गयी और उलटा तिरस्कार !

प्रख्यातकीर्ति : वह भ्रम था। बौद्धों को विश्वास था कि हूण लोग सद्धर्म्म का उत्थान करने में सहायक होंगे, परंतु ऐसे हिंसक लोगों को सद्धर्म्म कोई आश्रय नहीं देगा। (**पुरगुप्त की ओर देखकर**) यद्यपि संघ ऐसे अकर्मण्य युवक को आर्य्यसाम्राज्य के सिंहासन पर नहीं देखना चाहता तो भी बौद्ध धर्म्माचरण करेंगे, राजनीति में भाग न लेंगे।

अनंतदेवी : भिक्षु ! क्या कह रहे हो ? समझकर कहना।

हूण-सेनापति : गोपाद्रि से समाचार मिला है, स्कंदगुप्त फिर जी उठा है, और सिंधु के इस पार के हूण उसके घेरे में हैं, संभवतः शीघ्र ही अंतिम युद्ध होगा। तब तक के लिए संघ को प्रतिज्ञा भंग न करनी चाहिए।

पुरगुप्त : क्या युद्ध ! तुम लोगों को कोई दूसरी बात नहीं ! ···

अनंतदेवी : चुप रहो।

पुरगुप्त : तब फिर—एक पात्र ! (**सेवक देता है**)

प्रख्यातकीर्ति : अनार्य्य ! विहार में मद्यपान। निकलो यहां से।

अनंतदेवी : भिक्षु ! समझकर बोलो, नहीं तो मुंडित मस्तक भूमि पर लोटने लगेगा।

हूण-सेनापति : इसी की सब प्रवंचना है। इसका तो मैं अवश्य ही वध करूंगा।

प्रख्यातकीर्ति : क्षणिक और अनात्मभाव में कौन किसका वध करेगा—मूर्ख !

हूण-सेनापति : पाखंड ! मरने के लिए प्रस्तुत हो।

प्रख्यातकीर्ति : सिंहल के युवराज की प्रेरणा से हम लोग इस सत्पथ पर अग्रसर हुए हैं, वहां से लौट नहीं सकते।

[**हूण-सेनापति मारना चाहता है**]

धातुसेन : (ससैन्य प्रवेश करके) सम्राट् स्कंदगुप्त की जय !

[सैनिक सबको बंदी कर लेते हैं]

धातुसेन : कुचक्रियो ! अपने फल भोगने के लिए प्रस्तुत हो जाओ। भारत के भीतर की बची हुई समस्त हूण-सेना के रुधिर से यह उन्हीं की लगायी ज्वाला शांत होगी।

अनंतदेवी : धातुसेन ! यह क्या, तुम हो ?

धातुसेन : हां, महादेवी ! एक दिन मैंने समझाया था, तब मेरी अवहेलना की गयी—यह उसी का परिणाम है। (सैनिकों से) सबको शीघ्र साम्राज्य-स्कंधावार में ले चलो।

[सबका प्रस्थान]

दृश्य : पांच

[रणक्षेत्र में सम्राट् स्कंदगुप्त भटार्क, चक्रपालित, पर्णदत्त, मातृगुप्त, भीमवर्म्मा इत्यादि सेना के साथ परिक्रमण करते हैं।]

मातृगुप्त : (संबोधन कर गाता है) वीरो !

हिमालय के आंगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हंस अभिनंदन किया और पहनाया हीरक हार
जगे हम, लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम तम पुंज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक।
विमल वाणी ने वीणा ली कमल-कोमल कर में सप्रीत।
सप्तस्वर सप्तसिंधु में उठे, छिड़ा तब मधुर साम-संगीत।
बचा कर बीज-रूप से सृष्टि, नाव पर झेल प्रलय का शीत।
अरुण-केतन लेकर निज हाथ वरुण-पथ में हम बढ़े अभीत।
सुना है दधीचि का वह त्याग हमारा जातीयता विकास।
पुरंदर ने पवि से है लिखा अस्थि-युग का मेरा इतिहास।
सिंधु-सा विस्तृत और अथाह एक निर्वासित का उत्साह।
दे रही अभी दिखायी भग्न मग्न रत्नाकर में वह राह।

धर्म को ले-लेकर जो नाम हुआ करती बलि, कर दी बंद।
हमीं ने दिया शांति संदेश, सुखी होते देकर आनंद।
विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म की रही, धरा पर धूम।
भिक्षु होकर रहते सम्राट् दया दिखलाते घर-घर घूम।
यवन को दिया दया का दान चीन को मिली धर्म की दृष्टि।
मिला था स्वर्ण-भूमि को रत्न शील की सिंहल को भी सृष्टि।
किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं।
हमारी जन्मभूमि थी यहीं, कहीं से हम आये थे नहीं।
जातियों का उत्थान-पतन, आंधियां, झड़ी, प्रचंड समीर।
खड़े देखा, झेला हंसते, प्रलय में पले हुए हम वीर।
चरित थे पूत, भुजा में शक्ति, नम्रता रही सदा संपन्न।
हृदय के गौरव में था गर्व, किसी को देख न सके विपन्न।
हमारे संचय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव।
वचन में सत्य, हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव।
वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान।
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य्य-संतान।
जियें तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे, यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।

सब : **(समवेत स्वर में)** जय! राजाधिराज स्कंदगुप्त की जय!

[हूण-सेना के साथ खिंगिल का प्रवेश]

खिंगिल : बच गया था भाग्य से, फिर सिंह के मुख में आना चाहता है। भीषण परशु के प्रहारों से तुम्हें अपनी भूल स्मरण हो जायेगी।

स्कंदगुप्त : यह बात करने का स्थल नहीं है।

[घोर युद्ध। खिंगिल घायल होकर बंदी होता है। सम्राट् को बचाने में वृद्ध पर्णदत्त की मृत्यु। गरुड़ध्वज की छाया में वह लिटाया जाता है।]

स्कंदगुप्त : धन्य वीर आर्य्य पर्णदत्त!

सब : आर्य्य पर्णदत्त की जय! आर्य्य साम्राज्य की जय!

[बंदी-वेश में पुरगुप्त और अनंतदेवी के साथ धातुसेन का प्रवेश]

स्कंदगुप्त : मेरी सौतेली माता ! इस विजय से आप सुखी होंगी।

अनंतदेवी : क्यों लज्जित करते हो स्कंद ! तुम भी मेरे पुत्र हो !

स्कंदगुप्त : आह ! यदि यही होती मेरी विमाता, तो देश की इतनी दुर्दशा न होती !

अनंतदेवी : मुझे क्षमा करो सम्राट् !

स्कंदगुप्त : माता का हृदय सदैव क्षम्य है। तुम जिस प्रलोभन से इस दुष्कर्म में प्रवृत्त हुईं—वही तो कैकेयी ने भी किया था। तुम्हारा इसमें दोष नहीं। जब तुमने आज मुझे पुत्र कहा, तो मैं भी तुम्हें माता ही समझूंगा, परंतु कुमारगुप्त के इस अग्नितेज को तुमने अपने कुत्सित कर्मों की राख से ढंक दिया—पुरगुप्त !

पुरगुप्त : देव ! अपराध हुआ—(**पैर पकड़ता है**)

स्कंदगुप्त : भटार्क ! मैंने तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी की। आज इस रणभूमि में पुरगुप्त को युवराज बनाता हूं। देखना, मेरे बाद जन्म-भूमि की दुर्दशा न हो। (**रक्त का टीका पुरगुप्त को लगाता है**)

भटार्क : देवव्रत ! अभी आपकी छत्रछाया में हम लोगों को बहुत-सी विजय प्राप्त करनी है, यह आप क्या कहते हैं ?

स्कंदगुप्त : क्षत-जर्जर शरीर अब बहुत दिन नहीं चलेगा, इसी से मैंने भावी साम्राज्य-नीति की घोषणा कर दी है। इस हूण को छोड़ दो और कह दो कि सिंधु के पार के पवित्र देश में कभी आने का साहस न करे।

खिंगिल : आर्य्य सम्राट् ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। (**जाता है**)

दृश्य : छह

[उद्यान का एक भाग]

देवसेना : हृदय की कोमल कल्पना ! सो जा। जीवन में जिसकी संभावना नहीं, जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है ? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा—सबसे मैं विदा लेती हूं।

आह ! वेदना मिली विदाई।

मैंने भ्रमवश जीवन संचित, मधुकरियों की भीख लुटाई।
छलछल थे संध्या के श्रमकण, आंसू-से गिरते थे प्रतिक्षण।
मेरी यात्रा पर लेती थी—नीरवता अनन्य अंगड़ाई।
श्रमित स्वप्न की मधुमाया में, गहन-विपिन की तरु-छाया में।
पथिक उनींदी श्रुति में किसने—यह विहाग की तान उठाई।
लगी सतृष्ण दीठ थी सबकी, रही बचाये फिरती कबकी।
मेरी आशा, आह ! बावली, तूने खो दी सकल कमाई।
चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर, प्रलय चल रहा अपने पथ पर।
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर, उससे हारी-होड़ लगाई।
लौटा लो यह अपनी थाती, मेरी करुणा हा-हा खाती।
विश्व ! न संभलेगी यह मुझसे, इसने मन की लाज गंवाई।

[स्कंदगुप्त का प्रवेश]

स्कंदगुप्त : देवसेना !

देवसेना : जय हो देव ! श्रीचरणों में मेरी भी कुछ प्रार्थना है।

स्कंदगुप्त : मालवेश-कुमारी, क्या आज्ञा है ? आज बंधुवर्म्मा इस आनंद को देखने के लिए नहीं हैं। जननी जन्मभूमि का उद्धार करने की जिस वीर की दृढ़ प्रतिज्ञा थी—जिसका ऋणशोध कभी नहीं किया जा सकता—उसी वीर बंधुवर्म्मा की भगिनी मालवेश-कुमारी देवसेना की क्या आज्ञा है ?

देवसेना : मैं मृत भाई के स्थान पर यथाशक्ति सेवा करती रही, अब

मुझे छुट्टी मिले।

स्कंदगुप्त : देवि ! यह न कहो। जीवन के शेष दिन, कर्म के अवसाद में बचे हुए हम दुखी लोग, एक-दूसरे का मुंह देखकर काट लेंगे। हमने अंतर की प्रेरणा से शस्त्र द्वारा जो निष्ठुरता की थी, वह इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए। परंतु इस नंदन की बसंत-श्री इस अमरावती की शची, स्वर्ग की लक्ष्मी तुम चली जाओ, ऐसा मैं किस मुंह से कहूं ? (**कुछ ठहरकर सोचते हुए**) और किस वज्र कठोर हृदय से तुम्हें रोकूं ? देवसेना ! तुम जाओ। हतभाग्य स्कंदगुप्त ! अकेला स्कंद—ओह !

देवसेना : कष्ट हृदय की कसौटी है—तपस्या अग्नि है—सम्राट् ! यदि इतना भी न कर सके तो क्या ! सब क्षणिक सुखों का अंत है। जिसमें सुखों का अंत न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए। मेरे इस जीवन के देवता ! और उस जीवन के प्राप्य ! क्षमा ! ···

[**घुटने टेकती है। स्कंद उसके सिर पर हाथ रखता है।**]

[**यवनिका**]

●●●

स्कंदगुप्त विक्रमादित्य : मगधपति कुमार गुप्त
महेन्द्रादित्य का ज्येष्ठ पुत्र, युवराज,
जिसने सौराष्ट्र आदि से शकों का और
कश्मीर तथा सीमा-प्रांतों से हूणों का राज्य
ध्वंस कर सनातन आर्य धर्म की रक्षा की।

महाकवि जयशंकर 'प्रसाद' के प्रसिद्ध नाटक
स्कंदगुप्त का नायक यही वीर योद्धा है।

अपनी इस नाट्य-कृति में प्रसाद जी ने
तत्कालीन राजनीतिक षड्यंत्रों, घात-प्रतिघातों
और सामाजिक परिस्थितियों के इतिहास-सम्मत
चित्र प्रस्तुत किये हैं।

स्कंदगुप्त सहित उनकी अन्य नाट्य-कृतियां
न केवल हिंदी वरन् संपूर्ण भारतीय साहित्य की
अनुपम निधि हैं।
यही कारण है कि ये कृतियां विगत पचास से अधिक
वर्षों से न केवल बार-बार मंचित की जा रही हैं,
वरन् पाठ्य-पुस्तकों के रूप में पढ़ी भी जा रही हैं।

महाकवि जयशंकर प्रसाद : लोकमंगल मूलक आदर्शों के
क्रांतिदर्शी स्वप्नद्रष्टा एवं अग्रदूत !

मयूर पेपरबैक्स

11/-